...थमाला—एकादश कुसुम

# पाणिनीयप्रबोधः पूर्वार्धं




श्रीगोपालशास्त्री
( दर्शनकेशरी )



श्रीकृष्णः शरणं मम

श्रीक्षेमधरिणा कौशल्याजेन शाण्डिल्येन
श्रीगोपालशास्त्रिणा दर्शनकेशरिणा

विरचितः

# पाणिनीयप्रबोधः

( पूर्वार्द्धः )



सं० २०१२

प्रकाशक:—
शक्तिमण्डल
डी. ३१, गार्डनकालनी,
सिगरा, बनारस-१



मुद्रकः—
के० कु० पावगी
हितचिन्तक प्रेस,
रामघाट, बनारस-१.

# शुभाशंसा

प्राच्य विश्वजनीनाज्ञां मालवीयमहामुनेः ।
काठिन्यं व्याकृतेर्हर्तुं ग्रन्थरत्नं विरच्यते ।। १ ।।
विस्मृतः पाणिनेरार्षोऽध्ययनाध्यापनक्रमः ।
प्राचीनस्तत्प्रचारेण महेशः सम्प्रसीदतात् ।। २ ।।
शिवं ध्यायमानाः पठन्तु प्रवीणाः
कुमार्यः कुमाराः प्रयोगेष्वदीनाः ।
भवेत्सर्वविद्यासु तेषां प्रवेशो
न चेतो भवेद् व्याकृतेर्भीतिलेशः ।। ३ ।।
पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।। ४ ।।
स्मारं स्मारं कालिदासोक्तिमेतां
ध्यायं ध्यायं संस्कृताभ्युन्नतिं ताम् ।
श्रावं श्रावं मामकीनां प्रतिज्ञां
शालां शालां पाठयन्तु "प्रबोधम्" ।। ५ ।।
नौरोजी लोकमान्यप्रभृतिनरवरैर्गान्धिबोसादिभिस्तैः
कांग्रेसान्दोलनेन ध्रुवमधिगमिते भारतीये स्वराज्ये ।।
श्रीगोपालोपनद्धः सरलसुरगिरा मालवीयोपदिष्टः ।
सम्पूर्णानन्दशिष्टश्चिरमिह जयतात् पाणिनीयप्रबोधः ।। ६ ।।

वैज्ञानिकेन विधिना विविधैः प्रयत्नैः
पूर्णोपकारमनसा मुनिना कृतो यः ॥
सूत्रक्रमः स कमनीयतमोऽपि लोके
हा साम्प्रतं पठनपाठनतो निरस्तः ॥ ७ ॥
मेधाकृदुत्तमतमा क्रमतो निबद्धा-
ऽष्टाध्यायिकाऽतिमृदुला ध्रुवमाशुबोधा ।
क्रीडापरैरपि पुरा पृथुकैः स्वधीता
हा व्युत्क्रमाऽद्य जटिला पृथुकौमुदीयम् ॥ ८ ॥
वर्षवृन्दाद्विलुप्ता प्रथा पाठनात्
पाणिनीयाऽधुना प्रोद्धृता प्रत्नतः ।
पुण्यदा लाभदा मञ्जुला लाघवी
वृत्तिघोषश्रमालोपिकालोक्यताम् ॥ ९ ॥
निगमसदृशमेतत्पुण्यदम्पाणिनीयम् ।
प्रियतमतनयान् स्वान् यत्नतः पाठनीयम् ।
फलमिह पदबोधे लाघवं साधनीयम् ।
द्विजकुलमपि मेधावर्द्धनं ज्ञापनीयम् ॥ १० ॥
पुष्पं ददौ योऽनुपमं सरोजं
दिदेश गीतामृतमद्भुतं यः ।
स्वतन्त्रतां भारतमानयद्य-
ईशः स रक्षेदपि शब्दशास्त्रम् ॥ ११ ॥

—:o:—



# समर्पणम्

---

'सुप्रभात'-प्रसङ्गेन कियन्तः काशिका बुधाः
एकदोपस्थिता द्रष्टुं 'मालवीयं' महामुनिम् ॥ १ ॥
तत्र प्रासङ्गिकालापे समाप्ते स महामुनिः
गम्भीरमुद्रया किञ्चिच्चिन्तयन्निदमब्रवीत् ॥ २ ॥
शृण्वन्तु सावधाना वै साभिप्रायं वचो मम
अद्यत्वे शब्दशास्त्रस्याध्ययनाध्यापनक्रमः ॥ ३ ॥
विकृतो बहुशो यस्मात्संस्कृतं कठिनायितम् ।
भवद्भिः क्रियतां यत्नः सारल्ये व्याकृतेर्ध्रुवम् ॥ ४ ॥

येन व्याकरणज्ञाने सारल्यं स्याच्च लाघवम् ॥ ५ ॥
प्रवृत्ताः स्युर्यतः सर्वे संस्कृताध्ययने मुदा
इत्याभाष्य पुनः प्राह मां सम्बोध्य स वै मुनिः ॥ ६ ॥
शास्त्रिन् ! भारोऽयमासक्तस्त्वय्येवेत्यवधार्यताम् ।
'ओम्' इत्युक्त्वा तदाज्ञां तां समादृत्याहमुक्तवान् ॥ ७ ॥
भगवन् ! अयमादेशः सिद्ध इत्यवगम्यताम् ।
इत्यामन्त्र्य वयं तस्मात्परावृत्ता यथागतम् ॥ ८ ॥
दन्ताङ्काब्जेति खृष्टाब्दे काशीकांग्रेसनायकः ।
गोरण्डशासने वर्षं कारावासमशिश्रियम् ॥ ९ ॥
तमेवावसरं लब्ध्वाऽलोड्य व्याकरणोदधिम् ।
लोकमान्य-महात्मादि-सुभाषादिप्रयत्नतः ॥ १० ॥
स्वतन्त्रे भारते जाते नेत्रेष्वङ्काब्जसम्मिते ।
पाणिनीयप्रबोधाख्यं लब्धं ग्रन्थामृतं मया ॥ ११ ॥
एवं विंशतिवर्षैः स आदेशोऽद्य महामुनेः ॥ १२ ॥
महादेवप्रसादेन सम्यक् सफलितोऽभवत् ।
'यत्करोषि यदश्नासीत्यादि'-गीतोपदेशतः ॥ १३ ॥
सत्सङ्कल्पसमुद्भूतं ग्रन्थमीशे समर्प्य तम् ।
मनाक् प्रसङ्गतो वच्मि तत्सम्बन्धेऽपि साम्प्रतम् ॥ १४ ॥

सञ्ज्ञाः सन्धयः शब्दा धातवः प्रत्ययास्तथा ।
प्रयोगसाधिका रीतिः संक्षेपेण समीरिता ॥ १५ ॥

अमद्गुरुपवासीनां भारतीयार्य्य-संस्कृतिम् ।
जिज्ञासुकामाः सोत्साहाः पठेयुः संस्कृतां गिरम् ॥ १६ ॥

कण्ठस्थमाचरत हे बटवः क्रमेण
पूर्वं समादरभरादपि 'सूत्रजातं'
पश्चाद्भवद्भिरनिशं स्वयमर्थबोधात्
ग्रन्थोऽयमाशु वरदो ध्रियतां 'प्रबोधः' ॥ १७ ॥



हा हन्त 'पाणिनिमुनेः' सरलः प्रकारो
व्यावर्तितः कतिपयादधुनाऽब्दतो यद्
भूत्वा ततोऽतिगहनं किल शब्दशास्त्रं
सर्वान्विभीषयति देवगिरोऽधिगन्तॄन् ॥ १८ ॥

यतो विभ्यतः साम्प्रतं भारतीया
गिरोऽधीयते नादरेणामराणाम्
विलुप्ताऽय्यर्यमर्य्यादया सार्द्धमस्माद्
अहो ! विश्ववन्द्याऽथ सा वेदविद्या ॥ १९ ॥

मया मालवीयाज्ञया वर्षपूगैः ।
प्रयत्नान्निबद्धोऽधुना ग्रन्थ एषः
प्रतिज्ञायते मासषट्केन बालाः
पठन्तो भवेयुर्ध्रुवं संस्कृतज्ञाः ॥ २० ॥

गिरिजनिगिरिशावाराध्य 'गोपालशास्त्री'
द्रुतमिह सुरभाषोन्नीतिकामः समन्ताद् !
उपहरति बटुभ्यः "पाणिनीयप्रबोधम्"
प्रचरतु भुवि नित्यं श्रीमहेशप्रसादात् ॥ २१ ॥

कन्या-संस्कृत-शिक्षामन्दिरम्
श्रावणी पूर्णिमा
संवत् २००५ काशी ।

श्रीगोपालशास्त्री (दर्शनकेशरी)
केशरिकुञ्ज, डी० ५९ । ३६
सिगरा, बनारस १ ।

# हार्दम्

—:o:—

"अङ्गानि वेदाश्चत्वारो, मीमांसा न्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणानि, विद्याश्चैताश्चतुर्दश ॥
उपवेदैश्चतुर्भिस्तु ता एवाष्टादश स्मृताः ॥

, ४ चार वेद, ६ अङ्ग, ( शिक्षा, कल्पसूत्र, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्दः ) मीमांसा, ( पूर्व, मध्य और उत्तर ) न्यायविस्तर, ( वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पाशुपत, वैष्णव, सौगत ( बौद्ध ), जैन (आर्हत), लोकायत ( चार्वाक ), सभी तार्किक ( दर्शन ), १८ धर्मशास्त्र, १८ पुराण, ( १८ उपपुराण भी ) ये ही १४ विद्याएँ हैं। ४ उपवेद, ( आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र ) मिलाकर ये ही १८ अठारह हो जाती हैं। इन्हीं चौदह विद्याओं के अध्ययन कर लेने से मनुष्य पूर्ण-प्रज्ञ हो जाता है। अतः इनको संक्षिप्त रूप में पाठकों के सामने रखना ही मनीषियों का कर्तव्य है।

मैं यहाँ केवल व्याकरण के विषय में कुछ सार बातें कहूँगा :—

"समुद्रवद् व्याकरणं महेश्वरे तदर्धकुम्भोद्धरणं बृहस्पतौ।
तद्भागभागाच्च शतं पुरन्दरे कुशाग्रबिन्दूत्पतितं हि पाणिनौ ॥

माहेश व्याकरण समुद्र के समान विस्तृत है। बृहस्पति का समुद्र से कुम्भद्वारा निकाले जल के समान थोड़ा है। पुरन्दर ( इन्द्र ) का उसके भी शतांश भाग के बराबर है। पर पाणिनि का व्याकरण समुद्र से निकाले कुश के अग्रभाग से टपकते हुए जलबिन्दु के बराबर है।

इससे यह सिद्ध है कि पाणिनि महर्षि ने समुद्र के समान विस्तृत व्याकरण को कुशाग्रबिन्दु जल के समान पवित्र और संक्षिप्त बना दिया है। पाणिनि व्याकरण की पूर्णता में तो किसी को सन्देह ही नहीं है। इस व्याकरण में लौकिक वैदिक दोनों शब्दों की सिद्धि की

गयी है, अतः इस पद्य का तात्पर्य्य पाणिनीय व्याकरण के संक्षिप्त स्वरूप की प्रशंसा करने में ही है। इसीलिये पतञ्जलि ने भीः—"रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनानि।"

इस वाक्य से व्याकरण के प्रयोजन में लाघव (लघुत्व) भी एक प्रशस्त गुण माना है। वस्तुतः पाणिनि ने अपने व्याकरण के लाघव करने में अद्भुत प्रतिभा दिखायी है। यहाँ करोड़ों करोड़ों शब्दों के साधुत्व के लिये एक एक सूत्र लिखे गये हैं। देखिये—

तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च २।१।१७, उणादयो बहुलम् ३।१।१, पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् ६।१।१५७, इत्यादि एक २ सूत्रों से अनन्त प्रयोगों की सिद्धि होती है। सूत्र भी इतने संक्षिप्त हैं कि

"अर्धमात्रालाघवे सति पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः।"

यह प्रसिद्धि, ही चल पड़ी है। समुद्र के समान विस्तृत व्याकरण को अतिसंक्षिप्त कर ३९९६ सूत्रों में ला देना, यह पाणिनि महर्षि की ही तपस्या तथा प्रतिभा का प्रभाव है। ऐसे अति संक्षिप्त पाणिनीय व्याकरण को भी टीका, प्रटीका, वृद्धप्रटीका, व्याख्या, उपव्याख्या, उपोपव्याख्या करके आज इतना विस्तृत रूप दिया गया है कि—"द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते" यह किंवदन्ती चल पड़ी है। जिस महर्षि ने समुद्र के समान विस्तृत व्याकरण को कुशाग्रबिन्दु के रूप में ला दिया था। आज उसी का व्याकरण—"पुनस्तत्रैवावलम्बितो वेतालः।" इस नीति के समान पुनः समुद्रवत् विस्तृत हो गया है। यह कितने आश्चर्य्य का विषय है। अतः आज सभी आधुनिक मनीषियों का यह परम कर्तव्य है कि वे पाणिनि महर्षि के मुख्य उद्देश्य लघुत्व एवं सरलता की ओर पुनः प्रवृत्त होवें।

सरलता पाणिनि महर्षि के सूत्रक्रम में कूट-कूट कर भरी पड़ी है। एक सूत्र के पद आगे के सूत्रों में अनुस्यूत रहते हैं, जिससे सहज ही सूत्रार्थ समझ में आ जाता है। पाणिनि व्याकरण पढ़नेवालों की

मेधाशक्ति भी प्रखर हो जाती है। उनको आगे के सूत्रों में पीछे के सूत्रों का स्मरण रखना पड़ता है।

आज बहुतों में यह भ्रम फैला हुआ है कि संस्कृत तो कठिन भाषा है, पर यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो सभी भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत बड़ी सरल है। हम लोगों की मातृभाषा के सैकड़ों ७५ पचहत्तर शब्द संस्कृत के ही अपभ्रंश हैं। बहुत से शब्द तत्सम हैं, जो आज भी सभी प्रान्तीय भाषाओं में संस्कृत के समान ही प्रयुक्त हो रहे हैं। इससे संस्कृत भाषाद्वारा हम सभी प्रान्तों को अनायास ही एक सूत्र में बाँधे रहेंगे। यह एक राजनीतिक लाभ भी संस्कृतद्वारा स्वयं सिद्ध है। संस्कृतभाषा में आत्मविश्वास को सुदृढ़ बना देने वाली एक विलक्षण शक्ति है, जो अन्यान्य भाषाओं में नहीं पायी जाती। संस्कृतज्ञों को अपने वाक्यों की शुद्धता पर दृढविश्वास रहता है कि यह ऐसा ही होगा, महादेव भी इसे अन्यथा नहीं कर सकते।

संस्कृतभाषामें दूसरी विशेषता है कि वह अत्यन्त मधुर है और सङ्गीतमय है। छन्दः शब्द ही सङ्गीतका पर्य्याय शब्द है। हमारी संस्कृतभाषा छन्दोंमें ही निबद्ध पायी जाती है।

संस्कृतके अध्येता पाश्चात्य पण्डितोंने भी इस भाषा पर मुग्ध होकर जो उद्गार निकाले हैं वे आजके पाश्चात्याभिमुख नवयुवकों को अपने हृदयमें अङ्कित कर लेने चाहिये—

"अमृतं मधुरं सम्यक् संस्कृतं हि ततोऽधिकम्।
देवभोग्यमिदं यस्माद्देवभाषेति कथ्यते।
न जाने विद्यते किं तन्माधुर्यमिह संस्कृते
सर्वदैव समुन्मत्ता येन वैदेशिका वयम्।"

अमृत तो मधुर है ही, पर संस्कृत तो उससे भी अधिक मधुर है। यह भाषा तो मनुष्य को देवता बना देती है। इसी कारण इसे देव-भाषा कहते हैं। न जाने संस्कृत में कैसी जादू भरी मधुरता है कि हम

विदेशी लोग भी सर्वदा ही संस्कृत के पढ़ते समय उन्मत्त हो कर झूमने लगते हैं।

देखा आपने, यह है संस्कृत की विशेषता। अतः आज स्वतन्त्र भारत में भारतीय संस्कृति की जननी मानव धर्म की अवबोधिका संस्कृत भाषा का पठन-पाठन पूर्ववत् पुनः प्रवृत्त हो, इस उद्देश्य से मैं अपने चिरकाल के अनुभव द्वारा निम्नलिखित ग्रन्थ को लिखने में प्रवृत्त हुआ और आज परमेश्वर की अतुल अनुकम्पा से आपके समक्ष इसे उपस्थित करने में समर्थ हो सका हूँ।

पाणिनि महर्षि के पहले तथा पीछे भी बहुत से व्याकरण के ग्रन्थ बने हैं और काल के अविरत प्रवाह में विलीन हो गये हैं। पर इस युग में जन-कल्याण की कामना से जो ग्रन्थ लिखे जाँयगें, उनका प्रचार बहुत तेजी से और स्थायी रूप में हो सकता है।

'पाणिनीयप्रबोध' ग्रन्थ भारतीय संस्कृति के संरक्षक, राष्ट्रियसूत्रात्मा के समुद्बोधक, नवीन शिक्षाके संवर्द्धक, हिन्दूविश्वविद्यालयके प्रतिष्ठापक महामुनि स्वर्गीय मदनमोहन मालवीय जी महाराज की प्रेरणा से लिखा गया है। इसके अध्ययन से बालिकाओं एवं बालकों को संस्कृत भाषा का ज्ञान बहुत शीघ्र और थोड़े परिश्रम से हो जाता है।

यहाँ केवल इतना ही कहना है कि, पाणिनि के ३९९६ सूत्रों में लगभग ११८७ सूत्रोंका क्रम-बद्ध अतिसंक्षिप्त संग्रह 'ऋजुपाणिनीय' है। उन्हीं सूत्रोंको प्रयोगानुसार सजाकर 'पाणिनीयप्रबोध' लिखा गया है' बालमनोविज्ञानानुकूल अतिसरलतासे बालिकाओं एवं बालकों—दोनोंके लिये अत्युपयोगी संस्कृत व्याकरणका अभूतपूर्व संग्रह ग्रन्थ यह 'पाणिनीयप्रबोध' है।

लघुकौमुदी से इसकी विशेषता यह है कि, यहाँ सूत्रों की वृत्ति रटनी नहीं पड़ती। पूर्व सूत्रों से आये हुए पदों के आधार पर छात्र स्वयं सूत्रार्थ कर लेता है। (यह प्रकार सभी सूत्रों के सामने कोष्ठ में

एवं सूत्रों से अनुवृत्त पदों को लिखकर सूत्रों के साथ उन पर अन्वयाङ्क देकर स्पष्ट कर दिया गया है। ) बाद सरल संस्कृत भाषा में प्रयोगों को साधकर समझा दिया गया है। जिससे छात्र के हृदय पर अनायास ही प्रयोगों के साधने का संस्कार दृढ़ होता जाता है। प्रयोग उनकी स्मृति से विलुप्त नहीं होते। साथ ही संस्कृत बोलने का अभ्यास भी दृढ़ होता जाता है। इस प्रकार 'पाणिनीयप्रबोध' के अभ्याससे थोड़े ही समयमें छात्र मेधावी बन जाता है।

सन्धियों की सरलता तथा उनका अनुगम और निष्कर्ष, प्रयोगों एवं प्रकरणों के सङ्ग्रथन की विशेषता आदि तत्तत्प्रकरणों के साथ २ सम्बद्ध है। ग्रन्थ के आरम्भ में प्रदत्त परिशिष्ट के द्वारा उनके विषयों का सामान्य ज्ञान करा देनेका, तथा विषयों के प्रतिपादनशैली की स्पष्टता इत्यादि का ज्ञान तो पुस्तक पढ़ने वालों को होगा ही। उस पर मुझे कुछ नहीं कहना है।

छात्र प्रतिदिन, २० बीस सूत्रों के अभ्यास क्रम से दो महीनों में ११८७ सूत्रों को कण्ठस्थ कर लेता है और एक महीने में सूत्रार्थ समझ लेता है। बाद तीन महीने में 'पाणिनीयप्रबोध' द्वारा प्रयोगों को साधकर वह संस्कृत भाषा का ज्ञाता हो जाता है।

अब मैं देश के सच्चे सेवक, शिक्षासुधार के पक्षपाती संस्कृत भाषा के अभ्युदय के अभिलाषी तथा संस्कृतच्छात्रों का उद्धार चाहने वाले सभी राष्ट्रप्रेमी विद्वानों के समक्ष इस पुस्तक को उपहृत कर अपना कर्तव्य समाप्त करता हूँ। ॐ शान्तिः ३

कन्यासंस्कृतशिक्षामन्दिरम्
डी. ५९।२१ गार्डनकालनी
सिगरा, वाराणसी-१

श्रीगोपालशास्त्री क्षैमधरिः
( शाण्डिल्यः )
सौ० २४।७।२००७ वै०

# विषय-सूचिका

॥ श्रीकृष्णः शरणं मम ॥

# ❋ पाणिनीयप्रबोधकी पाठविधि ❋

पाणिनीयप्रबोधके पढ़ने से पहले 'ऋजुपाणिनीयम्' ( संक्षिप्ताष्टाध्यायी ११८७ सूत्र ) बालकों को कण्ठ कर लेना होगा। ( कण्ठ रहने से पाणिनीय प्रबोध में सूत्रार्थ करते समय अनुवृत्ति लेने के लिये पूर्वसूत्र दृष्टि.के सामने आ जाते हैं। नहीं तो 'ऋजुपाणिनीयम्' सामने रखकर सूत्रों को टटोलना पड़ता है ), वयस्कों की इच्छा पर निर्भर है। कण्ठ करलें तो अच्छा ही है। कण्ठ न करने से पाणिनीय प्रबोध में सूत्रार्थ करते समय अनुवृत्ति लेने के लिये ऋजुपाणिनीयम् सामने रखना ही चाहिये। 'ऋजुपाणिनीयम्' के प्रारम्भ में जो हिन्दी भाषा द्वारा अक्षर-विज्ञान, पदज्ञान, विभक्त्यर्थ, समास, सन्धिज्ञान इत्यादि लिखे गये हैं, जिनका ज्ञान किसी भी संस्कृत पुस्तक पढ़ने से पहले कर लेना नितान्त आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। बिना इतने ज्ञान के कोई भी संस्कृत पुस्तक पढ़ने का अधिकारी नहीं हो सकता। संस्कृत भाषा का इतना ज्ञान वाला ही व्यक्ति वृद्धिरादैच् १।१।१। प्रभृति सूत्रों का पदच्छेद ( सन्धि तोड़ कर पदों को अलग अलग कर देना ) स्वयं समझ सकता और कर सकता है। तथा यह भी समझ सकता है कि किस विभक्ति के किस वचन का यह पद है और किस सन्धि के कारण एक में सम्पृक्त ( सट गया ) है। ( इतना ज्ञान न कराकर बिना समझे लघुकौमुदी रटाने की प्रथा ने ही संस्कृत को कठिन और घोखू विद्या बना दिया है तथा लोगों को संस्कृत पढ़ने से विमुख कर दिया है। )

अस्तु, सूत्रार्थ करने में सर्वप्रथम सन्धिविच्छेद के साथ पदच्छेद कर चुकने पर ही यह देखा जाता है कि इस सूत्र में किस सूत्र का अधिकार है और किस सूत्र से किस पद की अनुवृत्ति आ रही है।

( जिस सूत्र के सभी पदसमूह अर्थात् पूरा सूत्र अपने यहाँ कोई प्रयोजन सिद्ध न करके केवल अन्य सूत्रों में बड़ी दूर तक जाता है वह अधिकार सूत्र कहाता है। जहाँ सूत्र का कुछ ही पद अपने यहाँ प्रयोजनसिद्ध करता हुआ ही कुछ सूत्र तक जाता है, इस प्रक्रिया को अनुवृत्ति कहते हैं। )

पाणिनि जी की अष्टाध्यायी में दो प्रकार के पद प्रायः सभी सूत्रों में पाये जाते हैं। एक तो उन्हीं सूत्रों के। दूसरे ऊपर के सूत्रों से आये हुए अनुवृत्ति के पद। इसलिये अष्टाध्यायी सूत्रों के अध्याय, पाद, सूत्र-संख्या तथा पर, नित्य, अन्तरङ्ग, अपवाद इत्यादि ( जो पाणिनीय सूत्रों की विशेषताएँ हैं ) का ज्ञान अनिवार्य है। इनके ज्ञान किये विना पाणिनीय व्याकरण पढ़ा ही नहीं जा सकता। अष्टाध्यायी पद्धति से पढ़ना ही पाणिनीय व्याकरण में सरलता लाना है। क्योंकि सूत्रों के पूर्वापरी भाव जानने से अपने आप वृत्ति बनाली जाती है। वृत्ति रटने का भारी परिश्रम जो पाणिनि महर्षि की सारी तपस्या की हत्या ही कर देने वाला है। वह विलकुल बन्द हो जाता है। यह अद्भुत लाघव इस प्रक्रिया में है।

अस्तु, अधिकार या अनुवृत्ति से आये पदों को सूत्र के पदों के साथ सिलसिलेवार ( अन्वय करके ) बैठाकर कोई भी क्रिया 'स्यात्' 'स्युः' 'भवेत्' 'भवेयुः' 'भवति' 'भवतु' इत्यादि अन्त में लगाकर वृत्ति बनाली जाती है। अपने आप बनायी हुई इस वृत्ति को चाहे समझकर ही मन में बैठालें या दो चार बार रटलें। जैसे भी इसका दृढ़ संस्कार मन पर बैठ जाय वैसा छात्रों को कर लेना चाहिये ( इससे पाणिनीय व्याकरण पढ़ने में सरलता के साथ साथ छात्र की मेधाशक्ति जो बढ़ती है वह महर्षि पाणिनि की अद्भुत देन है। जिसे स्वतन्त्र भारत में प्रदीप्त करना सभी मनीषियों का कर्तव्य है। उदाहरणार्थ सूत्रार्थ ( वृत्ति ) नीचे देखें—

अधिकार सूत्रों को लाकर सूत्रार्थ—जैसे—

वर्तमाने लट् ३।२।१२३ पदच्छेद—वर्तमाने ७।१—लट् १।१—( इति पदद्वयात्मकं सूत्रम् ) इसमें ऊपर से प्रत्ययः ३।१।१। परश्च ३।१।२। ( पञ्चमाध्यायतक अधिकार है ) ये दोनों अधिकार सूत्र आ जाते हैं। तीसरा धातोः ३।१।९१ ( तृतीयाध्यायतक अधिकार है ) यह सूत्र आता है।

इन सूत्रों के सभी पदों को सिलसिलेवार ( अन्वय करके ) बैठाकर वृत्ति बनती है—वर्तमाने धातोः परः लट् प्रत्ययः ( भवति ) इसकी हिन्दी स्वयं छात्र को अपने आप विभक्तियों के अर्थानुसार कर लेनी होगी—'वर्तमान ( काल ) में धातु से परे लट् प्रत्यय होता है।

अनुवृत्ति लाकर सूत्रार्थ—जैसे—

हलन्त्यम् १।३।३। पदच्छेद हल् १।१। अन्त्यम् १।१। ( इति पद-द्वयात्मकम् सूत्रम् ) इसमें ऊपर से 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' १।३।२ इस सूत्र से 'उपदेशे' और 'इत्' इन दो पदों की अनुवृत्ति आती है। इनको सिलसिलेवार ( अन्वय करके ) बैठाकर वृत्ति बनती है 'उपदेशे अन्त्यं हल् इत्' ( भवति ) हिन्दी—'उपदेश में अन्त्य हल् इत् होता है।' यों ही - न विभक्तौ तुस्माः १।३।४ पदच्छेद—'न' अव्यय-पदम् ( अ० ) विभक्तौ ७।१ तुस्माः १।३ इसमें उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इस सूत्र से 'इत्' एक पद की अनुवृत्ति आती है। इसको सिलसिलेवार ( अन्वय करके ) बैठाकर वृत्ति बनती है। 'विभक्तौ तुस्माः इतः न' ( भवन्ति ) हिन्दी-विभक्ति में तु ( तवर्ग ) स् म् इत् नहीं होते हैं। यों ही सब सूत्रों का अर्थ छात्र हँसता हँसता स्वयं कर लेता है।

आगे के सूत्रों में पूर्व सूत्रों से अनुवृत्ति ले आना भी बड़ा ही सरल है। नियम यही है कि "आगे के सूत्र में जिस विभक्तिवाला पद होगा उस विभक्तिवाला पद पूर्व सूत्र से नहीं जायेगा किन्तु विशेषण या विधेय समान विभक्तिवाला पद भी आ ही जाता है, जैसे—

'हलन्त्यम्' इस सूत्र में 'हल्' विशेष्य और 'अन्त्यम्' विशेषण ये दो प्रथमान्त उद्देश्य पद हैं। इसलिये 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इस सूत्र से 'अच् अनुनासिक' ये विशेष्य विशेषणात्मक प्रथमान्त उद्देश्य पद अनुवृत्ति में नहीं आते हैं। किन्तु 'उपदेशे' यह सप्तम्यन्त और 'इत्' विधेय ( प्रथमान्त होता हुआ भी ) दो ही आते हैं। यों ही 'न विभक्तौ तुस्माः' में 'विभक्तौ' सप्तम्यन्त पद बैठा है। इसलिये 'उपदेशे' सप्तम्यन्त नहीं आ सकता तथा 'तुस्माः' उद्देश्य प्रथमान्त बैठा है। इसलिये ऊपर के सूत्रसे उद्देश्य प्रथमान्त कोई पद नही आ सकता। केवल 'इत्' विधेय पद ही आता है। क्योंकि उसकी आकांक्षा आगे के सूत्रों में बनी है। आगे के सूत्रों की आकांक्षा ही पूर्व सूत्रों के पदों की अनुवृत्ति लाने में प्रधान कारण होती है। ( इस से छात्र स्वयं तो सूत्रार्थ कर ही लेगा साथ ही वह तीक्ष्ण बुद्धिवाला भी हो जायेगा। यह कितना उपकार पाणिनि जी का है। इधर तो ध्यान दीजिये )

अस्तु, इस प्रकार जब सभी सूत्रों का अर्थ 'ऋजुपाणिनीयम्' द्वारा करले तब 'पाणिनीय प्रबोध' लेकर अपने आप प्रयोगों को साधता चला जाय। अध्यापक तो केवल उसे सहारा दिया करें। हाँ, छात्रों को एक बात और भी स्वयं करनी है। पाणिनीयप्रबोध में जिस स्थिति में प्रयोग लाकर सूत्रों के आगे साधने वास्ते उदाहरण रूप में रखा गया है। उसके पहले के कुल सूत्रों को स्वयं लगाकर सिद्धकर उस स्थिति में ले आवें। जैसे—पृष्ठ १४ विसर्ग सन्धि में रामरु+हसति इत्यत्र, ऐसा लिखकर हशि च ६।१।११४ सूत्र लिखा गया है। इसे रामस्+हसति ऐसा रख कर ससजुषो रु ८।२।६६ सूत्र से 'स्' का रु करके रामरु+हसति ऐसा बना लेना होगा। तथा प्रयोगों को साधते समय सूत्रों का अर्थ करके ठीक २ प्रयोगों में घटाना होगा। इस सूत्र से यह कार्य्य होगा इतना ही कहना पर्य्याप्त नही है। एवं एक उदाहरण के बाद वैसा ही एक दूसरा उदाहरण अपने आप बनाना होगा। और कुल

उदाहरणों की हिन्दी भी समझते चलना होगा। यह काम अध्यापक करावें। पर इसे भी पहले छात्र स्वयं करे। इसी प्रकार सन्धि में जो सिद्ध पद लिखे गये हैं उनका सन्धिविच्छेद छात्र स्वयं अपनी ऊहा (बुद्धि) से करे, जैसे स्वराज्य + आन्दोलनम् = स्वराज्यान्दोलनम्। जब वह अटकने लगे तो अध्यापक बतावें, 'छात्र की बुद्धि को विकसित करना मेरा काम है।' यही अध्यापक को सदा ध्यान रखना चाहिये। और 'पाणिनीय प्रबोध' में दिये गये उदाहरणों को रख रखकर संस्कृत वाक्य भी वहाँ ही बनवाते चलना चाहिये। जैसे—वेदाध्ययनम् भवति। स्वराज्यान्दोलनम् अभवत् इत्यादि।

इस प्रकार से पढ़ने वाला छात्र केवल छः महीने में व्याकरण का व्यावहारिक ज्ञाता हो जाता है। इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं। परीक्षार्थी छात्र तो इसी व्याकरण ज्ञान के बल पर अन्यान्य परीक्ष्य ग्रन्थों को, बाकी छः महीने में पूर्ण करके, एक वर्ष में ही काशी की प्रथमा परीक्षा पास कर सकता है। यह छात्रों की प्रतिभा तथा उनके अध्यवसाय पर निर्भर करता है। मेरी तो प्रतिज्ञा है:—

मया मालवीयाज्ञया वर्षवृन्दैः, प्रयत्नान्निबद्धोऽधुना ग्रन्थ एषः।
प्रतिज्ञायते मासषट्केन बालाः, पठन्तो भवेयुर्ध्रुवं संस्कृतज्ञाः॥

मैंने स्वर्गीय महामुनि पं०मदनमोहनमालवीयकी प्रेरणासे २५ पचीस वर्षके परिश्रमसे ग्रन्थ लिखा है। मेरी प्रतिज्ञा है कि बालक भी इस पद्धति से छः महीने में अवश्य संस्कृत के ज्ञाता हो जायेगें। वयस्कों के लिये कोई काल नियम नहीं। वे चाहें तो इससे भी कम काल में संस्कृतज्ञ हो सकते हैं।

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण, 'आज' (काशी के पत्र) के सम्पादकों में पं० श्रीशङ्करशुक्ल शास्त्री एम. ए. हैं, जो १॥ डेढ महीनेमें इसी पद्धति से संस्कृत पढ़ कर कालिदास के काव्य नाटकों का अध्ययन कर चुके हैं। )॥। तीन पैसे के कार्ड द्वारा आप पूछ सकते हैं—अलमतिविस्तरेण।

संस्कृता कठिना भाषा मिथ्येमां जनधारणाम् ।
कर्तुमेव मयाऽलेखि ग्रन्थ—द्वयमनुत्तमम् ॥
षड्मासैरेव सर्वेऽपि वयस्का बालकास्तथा ।
संस्कृतज्ञा भविष्यन्ति प्रत्यक्षे किम्प्रमाणतः ॥

भाष्य द्वारा पतञ्जलि ने पाणिनि सूत्रों को वेद तुल्य बताया है। जैसे वेद मन्त्रों में आनुपूर्वी होती है। वैसे ही इन सूत्रों में भी आनुपूर्वी है। यदि ये सूत्र क्रम से पढ़े जायेंगे तभी अपना रहस्य दे सकेंगे। इन्हें व्युत्क्रम से पढ़ने पर तो लाभ की जगह हानि ही होगी।—"मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।" जैसे वेदमन्त्रों का मिथ्या प्रयोग होता है तो वह हानिकर हो जाता है, उसी प्रकार पाणिनि सूत्र भी क्रम तोड़ देने पर अपनी सरलता छोड़ देते हैं। व्युत्क्रम से उपन्यस्त सूत्रों की वृत्ति रटनी ही पड़ेगी और वह वृत्ति आगे जाकर भूल ही जायगी। यह प्रक्रिया ही महर्षि पाणिनि के संकल्प के विरुद्ध है। अतः पाणिनि सूत्रों को महर्षि पाणिनि की पद्धति से पढ़ना पढ़ाना अब स्वतन्त्र भारत में प्रचलित करना ही चाहिये। सहृदय मर्मज्ञ विद्वानों को तो इस पर दृढ हो जाना चाहिये। पाणिनि सूत्रों का क्रम रहस्यमय है। उसकी महिमा वर्णनातीत है। आप अनुभव कर देखें, यही मेरी करबद्ध प्रार्थना है।

निगमसदृशमेतत् पुण्यदम्पाणिनीयम् ।
प्रियतमतनयान्स्वान् यत्नतः पाठनीयम् ॥
फलमिह पदबोधे लाघवं साधनीयम् ।
द्विजकुलमपि मेधावर्द्धनं ज्ञापनीयम् ॥

श्रीगोपाल शास्त्री ( दर्शन-केशरी )

श्रीकृष्णः शरणं मम

# प्राक्कथन

सदाऽध्येया सर्वैर्निगमसदृशी पाणिनिमुने-
रहो ! अष्टाध्यायी झटिति पदबोधप्रणयिनी ।
सुपूर्णा वैज्ञानी ध्रुवमतिशयाह्लादजननी
स्वयं स्वार्थं ब्रूते क्रमनियमपाठेन सुगमा ॥ १ ॥

"सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत्प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः, सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति । मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयेते ।" ( भाष्य० अ० १ पा० १।२ )

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पाणिनि सूत्रों की प्रशंसा में लिखा है कि यह अक्षरवेद अइउण् इत्यादि चौदह लोकस्थानीय जो १४ सूत्र-समुदाय है, यही वृद्धिरादैच् १।१।१ प्रभृति सूत्र-समुदाय द्वारा पुष्पित होता है एवं सूत्र क्रमानुसार एक के बाद एक सूत्र की अनुवृत्ति और अधिकार-विधि से अर्थज्ञान कर लेने पर फलित होता है तथा वार्तिक परिभाषादि के ज्ञान से चन्द्र के समान ताराओं से प्रतिमण्डित होकर वाक्समाम्नाय वाग्वेद ब्रह्मराशि हो जाता है। इसे अवश्य पढ़ना चाहिये। इसके ( अष्टाध्यायी सूत्रसंघ के ) ज्ञान कर लेने पर सारे वेद के पढ़ने का पुण्य फल मिलता है और उसके ( पढ़ने वालों के ) माता पिता स्वर्गलोक में पूजित होने लगते हैं।

ऐसी प्रशंसा के रहते भी परतन्त्र भारत में अष्टाध्यायी का पाठ बन्द हो गया था। आश्चर्य तो इस पर हो रहा है कि बड़े से बड़े विद्वानों की भी प्रतिभा परतन्त्रता काल में कुण्ठित हो जाती है। जिससे ऊपर के भाष्य का अर्थ भी सङ्कुचित कर दिया गया है। और यद्यपि सूत्रों की वृत्ति स्वयं बनाने के लिये पाणिनि महामुनि ने कितने ही परिभाषा सूत्रों की रचना

की है, तौ भी अधिकार अनुवृत्ति और उन सूत्रोंको लगाकर सूत्रार्थ न कराकर वीच के परतन्त्र भारत के विद्वान्, छात्रों से सूत्रवृत्ति रटवाने लगे। जिससे न केवल पाणिनि महर्षि के मूल संकल्प की ही हत्या हो गयी अपितु पाणिनि व्याकरण सरलता छोड़कर दुरूह और वृत्तिरटने के कारण कष्टसाध्य हो गया।

देखिये, मैं यहाँ पाणिनिमहर्षि की आविर्भावित पद्धति का दिग्दर्शन कराता हूँ विद्वान् लोग इसका विस्तार करलें—

१—सूत्र में जिस विभक्ति वाला पद होता है, उस विभक्ति वाला पद ऊपर के सूत्र से नहीं आता जैसे—क्ङिति च १।१।५ यह सप्तम्यन्तपद है, अतः यहाँ न धातुलोप आर्द्धधातुके १।१।४ इस सूत्र से केवल 'न' और इको गुणवृद्धी १।१।३ यह पूरा सूत्र आ जाता है। तब वृत्ति बन जाती है—क्ङिति च न इको गुणवृद्धी भवतः। अस्ति, भवति क्रिया तो जहाँ कोई क्रिया न रहे वहाँ लगा दी जाती है। यह तो सर्वसाधारण प्रसिद्धि है ही।

२—यों ही जहाँ बिना सम्बन्ध विशेष की षष्ठी विभक्ति होती है वहाँ षष्ठी के आगे 'स्थाने' यह पद जोड़कर वृत्ति बना ली जाती है। जैसे—इको यणचि ६।१।७४ इस सूत्र में 'इकः' षष्ठी किसी सम्बन्धविशेष में नहीं है अतः उसके आगे 'स्थाने' जोड़कर इकः स्थाने ऐसा अर्थ करते हैं और संहितायाम् ६।१।७० का अधिकार आरहा है तो अर्थ होता है—इकः स्थाने यण् भवति अचि परे संहितायाम्। योंही एचोऽयवायावः ६।१।७५ यह सूत्र इको यणचि ६।१।७४ के नीचे है तो इसमें षष्ठ्यन्त और प्रथमान्त पद रहने के कारण 'इकः' और 'यण्' नहीं आवेंगे किन्तु केवल 'अचि' सप्तम्यन्त पद ही आवेगा और इसकी 'एचः' षष्ठी के आगे स्थाने लग जायगा और संहितायाम् ६।१।७० का अधिकार ६।१।१५७ तक चल ही रहा है तो इस सूत्र की वृत्ति बन जायगी—एचः स्थाने अयवायावः भवन्ति अचि संहितायाम्। योंही इस प्रकार के सूत्रों

वृत्ति अपने आप बनती जायगी। इसके लिये पाणिनिजी ने षष्ठी स्थाने योगा १।१।४८ यह परिभाषासूत्र वृत्तिबनाने वाला स्वयं लिख दिया है।

यों ही जहाँ 'गुणः', 'वृद्धिः', ऐसे शब्द हों चाहे वे सूत्रों में ही हों या ऊपर के सूत्र से आये हों वहां 'इकः' षष्ठ्यन्त पद आकर अन्य नियमों के अनुसार मिलकर अर्थ करता है, जैसे—सार्वधातुकार्द्धधातुकयोः ७–३–८४ में मिदेर्गुणः ७–३–८२ से 'गुणः' आता है तब 'गुणः' के आने पर 'इकः' यह षष्ठ्यन्तपद आजाता है। बाद 'अङ्गस्य' ६–४–१ के अधिकार आने के कारण 'इकः' इस विशेषण से अन्त लग जाने से "इगन्तस्य अङ्गस्य गुणः भवति सार्वधातुकार्द्धधातुकयोः परयोः" वृत्ति बनजाती है। इसका सूत्र है इको गुणवृद्धी १–१–३

यों ही जहाँ 'ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत' शब्द पड़ा रहे या ऊपर से आता हो वहाँ 'अचः' यह षष्ठ्यन्त पद जुट जाता है। जैसे—ह्रस्वः ७–४–५९ का सूत्र है। इसमें अत्र लोपोऽभ्यासस्य ७–४–५८ से अभ्यासस्य आता है। बाद इसमें 'ह्रस्व' शब्द के कारण 'अचः' षष्ठ्यन्तपद आजाता है तो वृत्ति बनती है "अभ्यासस्य अचः ह्रस्वः भवति।"

यों ही सप्तमी को छोड़कर पञ्चमी षष्ठी प्रभृति विभक्ति वाले विशेषणों में 'अन्त' शब्द लगा कर उसी विभक्ति वाला उसे बनालेते हैं और सप्तमी वाले में आदि लगाकर जैसा का तैसा सप्तमी वाला रहने देते हैं जैसे—सुपि च ७–३–१०२ में अङ्गस्य ६–४–१ का अधिकार आता है और अतो दीर्घो यञि ७–३–१०१ सम्पूर्ण सूत्र आजाता है तो अतोऽङ्गस्य दीर्घो यञि सुपि ऐसा पदों का क्रम बैठता है। यहां पर 'अतः' षष्ठी विभक्ति वाला विशेषण है और यञि सप्तमी वाला तो उधर 'अन्त' लगा इधर 'आदि' लगा दोनों जगह अपनी अपनी विभक्ति बनी रही तो वृत्ति इस तरह बन गयी।

अदन्तस्य अङ्गस्य यञादौ सुपि दीर्घः ( भवति ) इसके लिये क्रमशः नियम है—येन विधिस्तदन्तस्य १-१-७२ यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे।

नामि ६-४-३ सूत्र है। इसमें 'ढ्रूलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण ६-३-१०९ से 'दीर्घः' आता है। इसलिये यहां 'अचः' यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित हो जाता है बाद 'अङ्गस्य' अधिकार आने से अचः विशेषण हो जाता है तो उसमें 'अन्त' शब्द लग जाने से—अजन्तस्य अङ्गस्य दीर्घः भवति नामि परे यह वृत्ति बन जाती है।

इसका सूत्र है अचश्च १-२-२८ इसमें ऊकालोऽज्झ्रस्व-दीर्घ-प्लुतः १-२-२७ से ह्रस्वदीर्घप्लुतः आकर अर्थ करा देता है कि जहां ह्रस्वदीर्घप्लुत पड़ा हो वहां 'अचः' यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित हो जाता है।

इसी प्रकार पर नित्य अन्तरङ्ग अपवाद, असिद्ध इत्यादि परिभाषा का ज्ञान भी इस व्याकरण में अत्यावश्यक है। अष्टाध्यायी पाठ जो सूत्र पूर्वापरीभाव से बाद में पढ़ा रहेगा वह पूर्वसूत्र की अपेक्षा बली होता है।

इसका सूत्र है विप्रतिषेधे परं कार्य्यम् १-४-२ यों ही नित्य अन्तरङ्ग अपवादों में परसे नित्य बली, पर नित्य से अन्तरङ्ग बली, पर, नित्य अन्तरङ्ग से अपवाद बली होता चलता है। असिद्ध होने का भी प्रभाव है।

इसका सूत्र है 'पूर्वत्रासिद्धम्' ८-२-१ यह ८ वें अध्याय के २ द्वितीय पाद का पहला सूत्र है। इसका अर्थ है कि पूर्व में अर्थात् ७ सात अध्याय और आठवें अध्याय के पहले पाद के सूत्रों में आठवें अध्याय के दूसरे तीसरे और चौथे पाद के सूत्र असिद्ध हैं। जब यह सूत्र ८-२-१ आठवें अध्याय के दूसरे पाद का पहला सूत्र होकर विधिसूत्र बना रहता है, तब तो यह होता है। जब यह सूत्र अधिकार होजाता है तब आगे के सूत्रों में बैठ जाता है और वहीं बैठा बैठा अर्थ करता है कि तुम पूर्वत्र पूर्व सू

असिद्ध हो अर्थात् आठवें अध्याय के तीन पाद के सूत्रों में भी पूर्व पूर्व के सूत्रों में पर पर के सूत्र असिद्ध हैं।

जैसे—हरे + इह यहाँ एचोऽयवायावः ६-१-७५ लगकर 'ए' को अय् करके हरय् इह बनाया। तब लोपः शाकल्यस्य ८-३-१९ लगाकर य् का लोप कर दिया हर + इह बन गया। यहाँ पर आद्गुणः ६-१-८४ जब लगने लगा तो पूर्वत्रासिद्धम् ८-२-१ के कहने से लोपः शाकल्यस्य ८-३-१९ आद्गुणः की दृष्टि में असिद्ध हो गया अर्थात् य् का लोप वहाँ है ही नहीं वहाँ 'य' ही पड़ा है तो अ + इ नहीं है अ + यि है तो आद्गुणः की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। इस प्रकार लगे हुए सूत्रों को भी यह असिद्ध कर के प्रयोग सिद्ध कराता है। और कहीं कहीं लगते हुए एक सूत्र को असिद्ध करके दूसरा सूत्र लगवा देता है।

जैसे—सत् + चित् यहाँ स्तोश्चुना श्चुः ८-४-४० को झलां जशोऽन्ते ८-२-३९ ने असिद्ध करके त् को द् कर दिया। तब स्तोः श्चुना श्चुः से द् को ज् हो गया बाद खरि च ८-४-५५ से ज् का च् करके सच्चित् बनता है।

इत्यादि बातों की जानकारी पाणिनीय व्याकरण पढ़ने वालों को अवश्य करना ही चाहिये—सबसे आवश्यक पाणिनीय व्याकरण में सूत्रों का क्रम से पढ़ना है। सूत्रों को क्रम से पढ़ने में ही सरलता, मेधावर्द्धकता प्रभृति अनेक अवर्णनीय गुण प्राप्त हो सकते हैं। मैं तो ज्यों ज्यों अष्टाध्यायी का परिशीलन करता हूँ त्यों त्यों मुग्ध होता जा रहा हूँ।

अब्दवर्षाद् विलुप्ता प्रथा पाठनात्।
पाणिनीयाऽधुना प्रोद्धृता प्रत्नतः॥
पुण्यदा लाभदा मञ्जुला लाघवी।
वृत्तिघोषश्रमालोपिकाऽलोक्यताम्॥ २॥

महाशिवरात्रि, १९९२ वि०
डी० ३१ सिगरा, बनारस

श्रीगोपालशास्त्री
(दर्शनकेशरी)

## संहितोपक्रमः—

परः सन्निकर्षः संहिता १।४।१०९ वर्णानामत्यन्तं सान्निध्यं संहिता, सैव सन्धिरिति लोकव्यवहारः, स च सम्पूर्वकात् 'धा' धातोः 'कि' प्रत्यये कृते निष्पन्नो भवति, तस्यार्थः सम्मेलनम्, संहिता सन्धानम् इत्यादिः। अत्र तु पूर्वापरीभावेन स्थितयोर्वर्णयोरत्यन्तसन्निधाने सति उभयोरन्यतरस्य वा योहि कार्य्यविशेषः सम्पद्यते स एव सन्धिशब्दार्थः। तस्य सामान्यतस्त्रयो भेदाः—अच्सन्धिः, हल्सन्धिः, विसर्गसन्धिश्चेति। यत्रोभयत्राचः सत्वे कार्यविशेषो जायते सोऽच्सन्धिः। यत्र पूर्वे प्राधान्येन हलः परत्र हलि अचि वा सति कार्यविशेषो भवति स हल्सन्धिः। यत्र पूर्वत्र सकारे रेफे विसर्गे वा परत्राऽचि हलि वा विद्यमाने कार्यविशेषः परिणमति स विसर्गसन्धिः। तस्य नियमाः—

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते॥

एकपदादिषु अवश्यं सन्धिः कर्तव्यो भवति। केवलं वाक्ये स वक्तुरधीनो विद्यते। वाक्यस्य लेखको वक्ता वा सन्धिं करोतु न करोतु वा स तत्र स्वतन्त्रोऽस्ति। उदाहरणानि—यथाः—ने + अनम् = नयनम्। उत् + भवति = उद्भवति। मनस् = रथः = मनोरथः। वाक्ये तु—गङ्गा अस्ति अत्र। गङ्गास्त्यत्र। षट् वृक्षाः। षड्वृक्षाः। रामः वाच्यः। रामो वाच्यः। इत्युभयथापि प्रयोगा भवन्ति। परन्तु वाक्येऽपि सर्वथा मार्दवं रक्षता सन्धिः कर्तव्य इति शिष्टसम्प्रदायो विद्यते। ३ तत्रादौ—

## अच्सन्धिनिष्कर्षो यथाः—

१—अकि समानस्वरयोर्दीर्घो जायते। २—अवर्णादिकि परे यथास्थानं गुणैकादेशो भवति। ३—अवर्णादेचि परे वृद्ध्येकादेशः कल्पते। अकारान्तोपसर्गात्परस्य ऋकारादेर्धातोः ऋकारेण सहयोगे गुणमपोह्य वृद्धिरेव जायते। ४—इकोऽसवर्णेऽचि परे यथास्थानं यण् निष्पद्यते। ५—एचः क्रमाद् = अय् = अव् = आय् = आव् इति सम्पद्यतेऽचि परे। ६—पदान्तादेङः

परस्य ह्रस्वाकारस्य पूर्वरूपमेव भवति । ७—द्विवचनानामीदूदेदन्तानां प्रकृतिभावेन दीर्घयणयाद्यादेशपूर्वरूपाणि नैव भवन्ति ।

## हल्सन्धिनिष्कर्षो यथाः—

१—दन्त्याक्षराणि तालव्येनाक्षरेण सह तालव्यानि मूर्द्धन्येन सह मूर्द्धन्यानि स्वतुल्यानि भवन्ति । २—अशि वर्गप्रथमाक्षरस्य स्ववर्गीयं तृतीयमक्षरम् भवति । ३—खरि परे वर्गतृतीयाक्षरस्य स्ववर्गीयं प्रथमाक्षरं भवति । ४—अनुनासिके परे वर्गप्रथमाक्षरस्य स्ववर्गीयं पञ्चमाक्षरं तृतीयाक्षरं वा भवति । ५—तदनानां लकारे परे स्वतुल्यो लकारो ज्ञेयः । ६—वर्गप्रथमाक्षरात् परो हकारस्तद्वर्गीयचतुर्थाक्षरत्वं भजते । प्रथमाक्षरञ्च तृतीयाक्षरं भूत्वा तिष्ठति । ७—वर्गप्रथमात् तृतीयाद्वाक्षरात् परः अम्परकः शकारः छकारो भवति तृतीयाक्षरञ्च प्रथमाक्षरं भूत्वा तिष्ठति । ८—पदान्ता ह्रस्वपूर्वा ङणनाः स्वरे परे द्विगुणितास्तिष्ठन्ति । ९—पदान्तो नकारस्तु अम्परकेषु त-थ-च-छ-ट-ठेषु षट्सु अक्षरेषु ( छवि ) तत्स्थानीय-स-श-ष-परकोऽनुस्वारो भूत्वा तिष्ठति । १०—झलक्षरेषु परेषु अपदान्तनकारमकारौ अनुस्वारीभूय तद्वर्गीयपञ्चमाक्षरतां व्रजतः । ११—पदान्तमकारस्तु वर्गाक्षरेषु परेषु य-व-लेषु च अनुस्वारो भूत्वा विकल्पेन परसवर्णतां गच्छति । १२—शषसहरेफेषु परेषु अपदान्तौ नकारमकारौ पदान्तश्च मकारोऽनुस्वारतामेव गच्छन्ति । १३—ह्रस्वादचः परः छकारः चकारपूर्वकस्तिष्ठति । इति ।

## विसर्गसन्धिनिष्कर्षो यथा—

१—खरि विसर्ग एव तिष्ठति । तत्रैव तस्य कखयोः पफयोः पूर्वं विकल्पेन जिह्वामूलीयोपध्मानीयरूपौ वैकल्पिकार्धविसर्गौ भवतः । २—दन्त्य-तालव्य-मूर्द्धन्येषु नवसु खरप्रत्याहाराक्षरेषु त एव वैकल्पिकाः त्रिविधाः सशषा, भवन्ति । ( अशि उः, यलोपः रेफश्चेति त्रिधा सन्धिर्भवति ) ३—तत्र ह्रस्वाकारात्परस्य रोः न तु रेफस्य ( स्वाभाविकस्य सम्बुद्धिस्थस्य

च ) अति इशि च उः भवति। ततो गुणे कृते अतश्च पूर्वरूपे सति प्रयोगसिद्धिः। ४—ह्रस्वाकारात् परस्य रोः न तु रुभिन्नरेफस्य ह्रस्वाकारभिन्ने अचि तथा आकारात् परस्य तु अशि यकारो जायते। तस्य च लोपे सन्धिकार्य्याभावः। ७—इचः परस्य रोः तथा अकारोपधस्यापि रुभिन्नरेफस्य, ऋदन्तशब्दानां सम्बुद्धिरेफस्य च अशि परे रेफ एव तिष्ठति। अस्यैव त्रिविधस्य रेफस्य रेफे परे लोपो जायते पूर्वस्य च दीर्घः। ८—सएष इत्युभयोः पदयोः ह्रस्वाकारभिन्ने अलि निर्विसर्गमेव रूपं तिष्ठति। सर्वत्र सुलोप एव भवतीत्यर्थः। केवलमति उत्वादि कार्य्यं जायते।

इति सन्धिप्रकरणम्

## शब्दविचारः—

संस्कृतव्याकरणे चत्वारो विषया विशेषतः परिशीलनीया विद्यन्ते। तेषां ज्ञानेन द्रुतमेव संस्कृतभाषायां प्रवेशो जायते। ते च विषयाः—१—सन्धयः। २—शब्दरूपाणि। ३—धातुरूपाणि। ४—समासाश्च। इति नामतो ज्ञेयाः।

१—सन्धिशब्दार्थो हि पूर्वमभिहितः। तत्स्वरूपमपि गतप्रकरणे प्रतिपादितमेव।

२—शब्दाश्च संस्कृतभाषायां व्युत्पन्ना अव्युत्पन्नाश्चेति द्विविधा भवन्ति। ये हि शब्दा धातुजाः सन्ति ते व्युत्पन्ना कथ्यन्ते। ये च स्वयं सिद्धास्तेऽव्युत्पन्नाः कथ्यन्ते।

अत्र आचार्य्याणां मतभेदोऽप्यस्ति। शाकटायनप्रभृतयो व्याकरणाचार्य्या यास्कादयश्च निरुक्ताचार्य्याः शब्दा धातुजा व्युत्पन्ना एव भवन्तीति सङ्गिरन्ते। कियन्तो वैयाकरणा गार्ग्यप्रभृतयो निरुक्ताचार्याश्च यौगिकान् शब्दान् धातुजान् व्युत्पन्नानाहुः। अन्यान् रूढानव्युत्पन्नानेवाभिदधति। सर्वेष्वपि शब्देषु कारकहारकप्रभृतयः प्रत्यक्षक्रियाः अश्वगोप्रभृतयः प्रकल्प्यक्रियाः। डित्थडवित्थादयोऽविद्यमानक्रियाश्चेति त्रिधा शब्दा भवन्ति।

३—ये हि धातुभ्यः प्रत्यययोगेन शब्दा निर्मीयन्ते ते धातुजाः शब्दाः कथ्यन्ते—मूलधातवश्च अष्टाशीत्युत्तराण्यष्टादशशतानि विद्यन्ते (१८८८) सन्नन्तादिप्रत्ययान्तधातुभेदतो नामधातुभेदतश्च तेऽनन्ता भवन्तीति धातुप्रकरणेऽभिधास्यते। तत्रापि विशिष्टधातवस्तु परिमिता एव सन्ति, यान् ज्ञात्वा तिङ्प्रत्यययोगेन धातुरूपाणि निर्माय सामान्यतः क्रियाव्यवहारः कर्तुं शक्यते। तेभ्य एव परिमितधातुभ्यः कृत्प्रत्यययोगेन शब्दान् निर्माय संस्कृतपदप्रयोगक्षमं प्रातिपदिककार्य्यं कर्तुं पार्य्यते। अद्यत्वे नास्ति वाचो विग्लापनस्य प्रयोजनम् अप्रसिद्धधातुघोषणादिना। ( तिङन्ते धातुरूपाणि द्रष्टव्यानि )।

४—समासाश्च समासप्रकरणे द्रष्टव्याः। इह शब्दनिरूपणं प्रस्तूयते। तथाहि—

२—शब्दसंख्यापि अनन्ता विद्यते। परन्तु कियतामेव विशिष्टशब्दानाम् नामानि ज्ञात्वा तेषां पुरतः सुबादिविभक्तियोगेन शब्दरूपाणि निर्माय ( न तु केवलं शब्दरूपाणि कण्ठस्थीकृत्य ) सर्वेषामेव संस्कृतसामान्यशब्दानां रूपज्ञानं कर्तुं शक्यते।

ते च त्रिंशत् शब्दाः सन्ति येषां रूपज्ञानतः प्रायः सर्वेषामेव शब्दानाम् रूपाणि ज्ञातुं शक्यन्ते। यतो हि प्रायः सर्वेऽपि शब्दाः तत्समानरूपभाजो भवन्ति। अल्पीयांस एव शब्दा अपवादरूपेण कासुचिद्विभक्तिषु तद्भिन्नरूपतामाश्रयन्ति। इति न विस्मरणीयम्।

संस्कृतभाषायां शब्दानां त्रीणि लिङ्गानि भवन्ति—१ पुल्लिङ्गम् २, स्त्रीलिङ्गम् ३, नपुंसकलिङ्गञ्चेति। इत्थं त्रिषु लिङ्गेषु विभक्तानाम् शब्दानाम् २१ एकविंशतिसुबादिविभक्तियोगेन पृथक् पृथग् विभिन्नानि बहूनि रूपाणि जायन्ते। इति भिन्नरूपाख्य एकः शब्दभेद उच्यते। द्वितीयोऽव्ययाख्योऽपि शब्दस्यैवाऽस्ति भेदः। यत्र रूपभेदो न जायते। न व्येति—विकारं न प्राप्नोति इत्यव्यय इति तद्व्युत्पत्तियोगात्। उक्तं च केनचित्—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ इति

इत्थं हि संस्कृतशब्दाः (१) भिन्नरूपाख्याः (रूपभेदवन्तः) (२) तद्भिन्नाः (अव्ययनामकाः) इति रूपभेदविचारणया द्विविधा भवन्ति । इमे उभयेऽपि शब्दा अर्थभेदविवक्षया चतुर्द्धा उच्यन्ते ।

(१) जातिवाचकाः (२) गुणवाचकाः (३) क्रियावाचकाः (४) द्रव्यवाचकाश्चेति । गौः शुक्लः पाकः देवदत्तः इत्युदाहरणम् । महाभाष्यकारः पतञ्जलिस्तु वृषरूपकत्वेन शब्दस्वरूपमुक्तवान्—तथाहि । "चत्वारि शृङ्गाः त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश"—

यस्य नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्चेति चत्वारि शृङ्गाः (शृङ्गानि) भूतभविष्यद्वर्तमानकाला इति त्रयोऽस्य शब्दस्य पादा उच्यन्ते । सुप्तिङ् चेति द्वे शीर्षे स्तः सप्त विभक्तयो हि हस्तासः (हस्ताः) सन्ति । उरसि कण्ठे शिरसि च त्रिषु स्थानेषु बद्धः रोरवीति शब्दं करोति । फलतः एभिरेव त्रिभिः स्थानैः शब्दोद्गमो भवति । एवं हि शब्दो वृषभस्वरूपो महो देवो जगद्व्यवहारकारको देवः प्रकाशात्मा मर्त्यां मनुष्येषु आविवेश प्रविष्टोऽस्ति । इति । मनुरपि शब्दमूलकमेव जगद्व्यवहारम् आम्नाति । इति प्रसंगसङ्गत्या ज्ञेयम्, तथाहि—

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तां तु यस्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥ (मनुः)

अस्तु, संस्कृतभाषायाम् भिन्नरूपाख्ये (रूपभेदवन्नामके) शब्दभेदे यानि त्रीणि लिङ्गानि भवन्ति । यानि च तेषु त्रिष्वपि एकवचनद्विवचन-बहुवचनभेदतो वचनानि त्रीणि सन्ति तानि सर्वाण्यपि विभक्तियोगेनैव व्यक्तीभवन्ति । (विभजन्ति शब्दान् नानारूपेषु इति विभक्तय उच्यन्ते ।) ताश्च २१ एकविंशतिः विभक्तयः—प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमीति सप्तधा सन्ति । तासु

सर्वास्वपि प्रत्येकं वचन-त्रय-योगो भवतीति त्रिगुणिताः सप्त एकविंशतिर्जायन्ते ।

## पुरुषभेदः

क्रियावत् शब्देष्वपि प्रथमः, मध्यमः, उत्तम इति त्रयः पुरुषभेदाः सन्ति । अस्मच्छब्द उत्तमपुरुषः । युष्मच्छब्दो मध्यमपुरुषः । एतद्व्यतिरिक्ताः सर्वेऽपि शब्दाः ( प्रधानत्वात् ) प्रथमपुरुषा गण्यन्ते । प्रधानपुरुषः प्रथमपुरुष इति व्युत्पत्तेः । अन्यपुरुषः, अपरपुरुषः, तृतीयपुरुष इत्यादि प्रथमपुरुषस्यैव नामान्तराणि ।

——:※:——

## लिङ्गज्ञानम्

संस्कृतभाषायां लिङ्गज्ञानाय प्रायः शब्दार्थज्ञानं कारणम् । परन्तु बहुत्रार्थविरुद्धमपि लिङ्गं प्रयुज्यते । यथा स्त्रीवाचकेऽपि 'कलत्र'-शब्दे क्लीबलिङ्गम् । तद्वाचक एव दारशब्दे पुँल्लिङ्गं बहुवचनञ्च । जलवाचकेऽपि 'अप्' शब्दे स्त्रीलिङ्गं बहुवचनञ्च । इत्यत एव पाणिनिना लिङ्गज्ञानार्थं लिङ्गानुशासनं नाम पृथक् प्रकरणमेवैकं निर्मितं विद्यते ।

## पदप्रयोगः

प्रकृतिभिः ( शब्दैर्धातुभिर्वा ) सह विभक्तियोगे सति पदानि जायन्ते । तदैव पदतां प्राप्ताः शब्दा धातवो वा वाक्ये प्रयोगार्हा भवन्ति । विभक्तियोगरहिताः केवलशब्दा धातवो वा संस्कृतभाषायां नैव प्रयुज्यन्ते सुप्तिङादिविभक्तयः शब्दाग्रे धात्वग्रे वा समागत्य लुप्ता भवेयुर्नाम परन्तु तासां तयोरग्रे एकदाऽऽगमनमावश्यकम् । यथाहि—अव्ययशब्दा निर्विभक्तिका दृश्यन्ते, परन्तु तत्र विभक्तयः समागत्य "अव्ययादाप्सुपः" इति सूत्रेण विलुप्ता भवन्ति । इति तेऽव्ययशब्दाः पदानि कथ्यन्ते । अत एव ते प्रयोगार्हा भवन्ति । उक्तञ्च भाष्ये—"अपदं न प्रयुञ्जीत । न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवलः प्रत्ययः । इति" ॥

संस्कृतभाषायां तानि पदानि सुबन्ततिङन्तभेदेन द्विविधानि भवन्ति। येषामन्ते सुब्विभक्तिर्भवति तानि सुबन्तानि, येषामग्रे तिङ्विभक्तिर्भवति तानि तिङन्तानि। इति विवेकः। एषामेव सुबन्ततिङन्तपदानां साधुत्वं व्याकरणस्य मुख्यं प्रयोजनम्। प्रातिपदिकशब्दानामग्रे सुब्विभक्तीनां, धातूनामग्रे तिङ्विभक्तीनां योगो जायते। व्युत्पन्नाव्युत्पन्नभेदेन शब्दा द्विविधा इत्युक्तमेव। धातुभ्यः कृदादिप्रत्यययोगतो निर्मिता व्युत्पन्नाः, तद्भिन्ना अव्युत्पन्नाः, एतदप्युक्तमेव। ये हि व्युत्पन्नशब्दा धातुजा भवन्ति, तेभ्यः, तथाऽन्येभ्योऽव्युत्पन्नशब्देभ्यश्च पुनरपि तद्धितादिप्रत्यययोगेन शब्दा निर्मीयन्ते; ते च सर्वेऽपि व्युत्पन्नशब्दा एव भवन्ति। इत्यादिप्रकारेण व्युत्पन्नशब्दनिर्माणमपि द्वितीयं व्याकरणप्रयोजनं गण्यते। अत एव तस्मै वैयाकरणाय हितं तद्धितमिति तद्धितशब्दसिद्धिरपि सार्थिका भवति। पतञ्जलिस्तु "रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनानि" इति वेदाङ्गत्वेन व्याकरणप्रयोजनमाह। अनयोर्व्युत्पन्नव्युत्पन्नयोरुभयोरपि शब्दयोः "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" "कृत्तद्धितसमासाश्च" इति क्रमेण प्रातिपदिकसंज्ञायां सत्यां स्वाद्युत्पत्तिर्जायते। ततश्च सूत्रबलात् विकरणादियोगतः पदसिद्धिर्भवति। तथाहि 'राम' शब्दो यदा दाशरथिरामचन्द्रेऽर्थे रूढस्तदा तस्याऽव्युत्पन्नतया "अर्थवदिति सूत्रेण प्रातिपदिकसंज्ञा जायते। यदा च रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति विग्रहेण ( वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः। कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः ) अधिकरणे घञि उपधावृद्धौ 'राम' इति कृदन्तशब्दो निष्पद्यते तदा तस्य व्युत्पन्नतया "कृत्तद्धित०" इत्यनेन प्रातिपदिकसंज्ञा भवति। इत्येवमुभयथाऽपि प्रातिपदिकात् 'रामशब्दात्' स्वाद्युत्पत्तौ 'रामः रामौ रामाः' इत्यादीनि वाक्यप्रयोगक्षमाणि पदानि निष्पाद्यन्ते। इत्थं हि ङ्यन्तावन्तादिस्त्रीलिङ्गशब्देभ्योऽपि स्वादयो विभक्तय उत्पद्यन्ते।

## पुँल्लिङ्गशब्दाः

प्रथमं पुँल्लिङ्गशब्दा विनिर्दिश्यन्ते। ते च प्राधान्येन दशैव सन्ति। पुँल्लिङ्गे तेषामेव साधुत्वज्ञानेन प्रायः समेषामेव पुँल्लिङ्गशब्दानां साधुत्वं रूपाणि चावगम्यन्ते, ते च यथा—

१राम २हरि ३करिन् ४भानु ५मरुत् ६कर्तृ ७चन्द्रमस् ८विद्वस् ९ भगवत् १० आत्मन्—इति दश शब्दाः प्रातिपदिकानि। एभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः प्रत्येकं पूर्वोक्ताः सप्त विभक्तयः क्रमश आयान्ति। एका सम्बोधन-विभक्तिरिति नाम्ना अष्टमी विभक्तिरप्यस्ति। परन्तु तस्याः प्रथमाया-मेवान्तर्भावेन न पृथग्गणना क्रियते। सप्तैव विभक्तय इति प्राचीन-प्रवादोऽप्यायाति।

## अथ सर्वनामशब्दाः

सर्वेषां नाम सर्वनाम, इति तत्पुरुषसमासकरणेन सर्वनामशब्दस्यार्थो भवति यो हि शब्दः सर्वेषामेव संज्ञाशब्दानां नाम ( संज्ञा ) स्यात्। यथा—कृष्णः शेते, बुद्धः जागर्ति। गान्धी आयाति। सर्वोऽपि देशभक्तोऽस्ति। अत्र चरमवाक्ये कृष्णः, बुद्धः, गान्धी इत्यस्य स्थाने सर्व इत्यस्य प्रयोगः। अतः 'सर्व' इति पदं सर्वनामपदम् अस्ति। एवं जयप्राणो विजयते, यतोऽसौ उत्साही वर्तते। अत्र द्वितीयवाक्ये "असौ" इति पदं 'जयप्राण' शब्दस्य स्थाने प्रयुक्तो विद्यते। अतः 'असौ' इतिपदं सर्वनामपदं ज्ञेयम्। इत्थमिमां व्युत्पत्तिमादाय सर्वनामशब्दाः संस्कृते यथार्थनामानः। तेषु च कियन्तो मुख्याः कियन्तः पारिभाषिका अपि सन्ति। तथाहि सर्वविश्वप्रभृतयः मुख्य-सर्वनामवाचका अन्ये नेमप्रभृतयः पारिभाषिकाः सन्ति। तत्र प्रायस्त्रिविधाः सर्वनामशब्दाः सन्ति। केचन अन्यस्य नाम्नः स्थाने प्रयुज्यन्ते। केचिद्विशे-षणवाचिनः सन्ति। कियन्तः संख्यावाचकाः सन्ति। यथा—सर्वविश्वप्रभृत-योऽन्यस्य स्थाने प्रयुज्यन्ते। पूर्वपरादयः विशेषणवाचकाः। एक, द्विप्रभृतयः संख्यावाचकाः। तेहि सामान्यतः पञ्चत्रिंशत् सन्ति। सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर, डतम, अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, नेम, सम, सिम, पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर, स्व, अन्तर, त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम्। इति॥

'भवत्' शब्दार्थस्तु युष्मच्छब्दार्थवदस्ति। परन्तु अस्य प्रयोगेण सह प्रथमपुरुषस्य क्रिया भवति। यथा—भवान् गच्छति। भवन्तौ गच्छतः। इत्यादि एवं भवत् शब्देन सह 'तत्र' 'अत्र' इतिपदयोर्योगे पूज्योऽर्थो जायते। यथा—"तत्र भवान् भाष्यकार आह"। पूज्यो भाष्यकारो वदतीत्यर्थः। इदमेतदिति शब्दौ समानार्थौ। तथा तद्, अदस् एतावपि समानार्थौ। परन्तु तत्र कियान् सूक्ष्मो भेदो विद्यते। तथाहि—

इदमः समक्षरूपं समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात्॥ इति॥

'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः' यत्र यच्छब्दस्य प्रयोगो भवति, तत्र तच्छब्दस्य, तत्पर्यायवाचिनोऽदश्शब्दस्य वा प्रयोगोऽवश्यं भवति। यथा—"यो विंशतिवर्षावधि ब्रह्मचारी तिष्ठति स एव दाम्पत्यसुखमपत्यसुखं च विन्दति।" किम् शब्दः प्रश्नवाची विद्यते। तस्य शुद्धरूपेण अपि, चित्, चन इति शब्दानां योगे अनिश्चितार्थो द्योतते। यथा—कोऽपि, कश्चित्, कश्चन। कावपि, कौचित्, कौचन। केऽपि, केचित्, केचनेत्यादि। आत्मीयार्थवाचकं संस्कृते शब्दद्वयमस्ति। निजशब्दः स्वशब्दश्चेति। तत्र 'निज' इति सामान्यशब्दः। 'स्व' इति सर्वनामशब्दः। इमौ च द्वौ विशेष्यनिघ्नौ स्तः। विशेष्यशब्दानुसारं त्रिषु लिङ्गेषु प्रयुज्येते। यथा—निजः पुत्रः, निजा दुहिता, निजं गृहम्। स्वः पुमान्, स्वा माता स्वं कर्म। कालिदासोऽप्याह—"सा निन्दन्ती, स्वानि (निजानि) भाग्यानि, बाला बाहूत्क्षेपं रोदितुञ्च प्रवृत्ता।" आत्मार्थवाचकमपि शब्दद्वयमस्ति आत्मशब्दः स्वशब्दश्चेति। तत्रार्थे तौ पुल्लिङ्गे एव प्रयुज्येते। तत्रैव प्रयुक्तौ सर्वत्र लिङ्गेषु, प्रयुक्तानां संज्ञाशब्दानां, आत्मार्थ-बोधकौ भवतः। यथा—स आत्मानं निन्दति। ते आत्मनो निन्दन्ति। सा आत्मानं प्रशशंस। ता आत्मनः प्रशशंसुः। तत्कुलं आत्मानम् अभिनन्दति, तानि कुलानि आत्मनोऽभिनन्दन्ति। स स्वं निन्दति, ते स्वान् निन्दन्ति। सा स्वं प्रशंसति। ताः

स्वान् प्रशशंसुः, तत् स्वं निन्दति, तानि स्वान् निन्दन्ति इत्यादि । 'स्वयम्' इति प्रथमान्तोऽव्ययशब्दः । स स्वयं जगाम, सा स्वयं जगामेत्यादि ।

—:❀:—

## अथ संख्याप्रकरणम्

संख्यानं संख्या गणनेति यावत् । सा हि संख्या त्रिधा भिद्यते १ क्रमसंख्या, २ पूरणीसंख्या, ३ क्रियाभ्यावृत्तिगणना चेति । तत्राद्या संख्या-संख्येय-भेदेन द्विधा एकत आरभ्याष्टादशान्ता तु संख्येयबोधिकैवास्ति । अतः सा विशेष्यनिघ्ना त्रिलिङ्गा भवति । तथाहि—एका शाटी, एकः पटः, एकं कुण्डम् । अष्टादश स्त्रियः, अष्टादश नराः, अष्टादश पुस्तकानि । उक्तञ्च—'अष्टादशान्ता एकाद्याः संख्याः संख्येयगोचराः' । तत्रापि पञ्चत आरभ्याष्टादशावधिसंख्यानां त्रिष्वपि लिङ्गेषु समानान्येव रूपाणि । उक्तञ्च—'षट्संज्ञकास्त्रिषु समाः, युष्मदस्मत्तिङव्ययम्' । इति । यथा पञ्च नार्यः, पञ्च बालकाः, पञ्च फलानि । षट् कुमार्य्यः, षट् कुमाराः, षट् मूलानि । कति कन्याः, कति घटाः, कति पत्राणि । विंशत्यादयः संख्यास्तु एकवचनान्ता संख्या-संख्येय वाचिकाश्च । तत्रानवनवतिम् स्त्रीलिङ्गाः शतादयस्तु नपुंसक-लिङ्गाः । कोटिः स्त्री । अर्वादयः षडेव पुल्लिङ्गाः । अन्त्यादयस्तु नपुंसक-लिङ्गा एव । सर्वा अपि संख्या-संख्येय वाचिकाः । उक्तञ्च—विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येयसंख्ययोः । संख्यार्थे द्विबहुत्वे स्तस्तासु चानवतेः स्त्रियः । शतादिः क्लीबलिङ्गैव कोटिः स्त्र्यर्वादिषट् पुमान्" । तत्र संख्यार्थे द्विबहुवचने अपि भवतः । यथा—विंशतिः पटानाम्, द्वे विंशती ब्राह्मणा-नाम्, तिस्रो विंशतयो गवाम् । शतम् अश्वानाम्, द्वे शते छागानाम्, त्रीणि शतानि सैन्यानाम् । विंशतिः छात्राः, त्रिंशतिः कन्याः, त्रिंशतिः कुलानि । शतं वृषाः, शतं महिष्यः, शतं रत्नानि । दशवृद्ध्या संख्यागणना प्रकारो यथा—

एकाद्यास्ताः परार्द्धान्ता गणने कीर्तिता बुधैः ।
एकं दश शतञ्चैव सहस्रमयुतं तथा ॥
लक्षञ्च नियुतञ्चैव कोटिरर्बुदमेव च ।
अर्वः खर्वो निखर्वश्च शङ्खः पद्मश्च सागरः ॥
अन्त्यं मध्यं परार्द्धश्च दशवृद्धया यथाक्रमम् ।

तत्तत्संख्यावगतौ तु संख्यानां वामतो गतिरिति नियम एव पालनीयः । पूरणी संख्या तु सर्वापि विशेष्यनिघ्नैव विद्यते । पुंलिङ्गे रामवत् स्त्रीलिङ्गे आकारान्ता रमावत् ईकारान्ता नदीवत् नपुंसके ज्ञानवत् तथाहि—प्रथमः पुरुषः । प्रथमा कन्या, प्रथमं पात्रम्, एवम् द्वितीयः द्वितीया, द्वितीयम् । तृतीयः तृतीया तृतीयम् । चतुर्थः चतुर्थी चतुर्थम् । पञ्चमः पञ्चमी पञ्चमम् । षष्ठः षष्ठी षष्ठम् । एकादशः एकादशी एकादशम् । विंशः विंशतितमः, विंशी विंशतितमा, विंशम् विंशतितमम् । त्रिंशः त्रिंशत्तमः, त्रिंशी त्रिंशत्तमा, त्रिंशम् त्रिंशत्तमम् । षष्टितमः षष्टितमा षष्टितमम् । शततमः शततमा, शततमम् । ३ क्रियाभ्यावृत्तिगणना तु अव्ययमेव । यथा—सकृद् भुंक्ते । द्विर्वक्ति । त्रिः शृणोति । पञ्चकृत्वो गणयति । इत्यादिः संख्याविचारः ।

## अथ अव्ययप्रकरणम्

संस्कृतभाषायां वाक्य-प्रयोगविषयेऽव्ययं बहूपकरोति । न व्येति विकारं प्राप्नोति । इत्यव्ययस्य व्युत्पत्तिलभ्योऽर्थः । तच्चाव्ययं स्वाभाविक—पारिभाषिकभेदेन द्विधा भिद्यते । तथा च स्वरादयो निपाताश्च स्वाभाविकाव्ययत्वं भजन्ते 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यादि पारिभाषिकसूत्रोक्ताव्ययन्तु तैः सूत्रैरेवोच्यते । स्वरादयो हि स्वत्वास्वत्ववाचका उभयेऽपि, निपाताः चादयः प्रादयस्तु असत्ववाचका एवाव्ययतां यान्ति । प्रकारान्तरेण सर्वमप्यव्ययं पञ्चविधं विद्यते । १ द्रव्यवाचकम्, २ क्रियाविशेषणम् ३ संयोजकम्, ४ मनोविकारसूचकम् ५ उपसर्गश्चेति । तत्र १—द्रव्यवाचकम्—यथा स्वर = स्वर्गे । भुर = धरायाम् । अन्तर् = अन्तरिक्षे ।

इत्यादि २—स्वरादावेव कालदेशवाचकम् क्रियाविशेषणं कथ्यते। यथा—उच्चैर्वद। नीचैर्गच्छति। अजस्रं पठति। इत्यादि। द्रव्यवाचकोऽनव्ययऽशब्दोऽपि द्वितीयैकवचनविभक्तियोगेन क्रियाविशेषणीकृत्य वाक्ये प्रयुज्यते। यथा—सुखं भुंक्ष्व-मधुरं ब्रूहि। परुषं मा वद। स्तोकं पच। मृदु व्यवहर। इत्यादि, ३—संयोजकम्। च, वा, तु, अपि इत्याद्यव्ययम्, पदस्यान्त एव प्रयुज्यते यथा—रामः कृष्णश्च गमिष्यतः। रामः कृष्णो वा गमिष्यति। स तु गतः। त्वमपि गन्तासि, इत्यादि। अथवेत्यव्ययं पदयोर्मध्ये प्रयुज्यते यथा—रामोऽथवा कृष्णो वदतु। 'इति' शब्दो ग्रन्थान्ते, वाक्यान्ते, पदान्ते एव प्रयुज्यते यथा—इति श्रीमहाभारते। 'अहं गमिष्यामि' इत्यभ्यधात्सः। राम इति पदं सिद्धम्, इत्यादि। ४—मनोविकारसूचकम् पदस्यादावेव प्रयुज्यते यथा-हन्त! क गतः। आः! तस्येदृशी दशा। हा! कष्टं। बत हुम् चित्रम्, हे मातर्दैवतानि धिक्। भोः पितः! क्वासि हे सुभ्रु! बह्वेवं विललाप सः" (इति भट्टिः) ५—उपसर्गस्तु प्रादिः क्रियायोगे भवति। ततः पूर्वमेव प्रयुज्यते च, यथा प्रैति, समेति, उदेति। इत्यादि।

## अथ स्त्रीप्रत्ययाः

प्रातिपदिकानन्तरं ङ्याब्भ्याम् स्वाद्युत्पत्तिर्विहितेति तन्निरूपणं प्रसङ्गप्राप्तं क्रियते। "स्तन-केशवती स्त्रीस्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः। उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम्।" तथा सत्त्वरजस्तमसां प्राकृतगुणानां वृद्धिः पुंस्त्वम्, अपचयः स्त्रीत्वम्। स्थितिमात्रं नपुंसकम्, इत्यादयो लौकिकलिङ्गनियमा नेह व्याकरणे समुपयुज्यन्ते। दारशब्दस्य पुंस्त्वात् कलत्रशब्दस्य नपुंसकत्वोक्तेश्च सेना सैन्यम्, आलयः आगारम्, कुटी कुटीरम्, तटः तटी तटम्, इत्यादिषु लिङ्गभेदज्ञानाच्चेति ज्ञेयम्। अत एवं पाणिनिना लिङ्गानुशासनं नाम पृथक् प्रकरणमेवैकं विरचितम्। पतञ्जलिना च, "अवश्यन्तावत् कश्चित् स्वकृतान्त आस्थेयः" इत्यादिना तत्समर्थनं कृतम्। इदं त्रिविधमपि लिङ्गं जातिव्यक्तिवत् प्रातिपदिकार्थं एव। टाप्, ङीप्, प्रभृति स्त्रीप्रत्य-

यास्तु केवलं द्योतका इति मतान्तरम्। तन्मते प्रातिपदिकत्वादेव सुबुत्पत्तौ सिद्धायां ब्राह्मण-वशिष्ठन्यायेन ङ्याबोः ग्रहणम्। "एकं द्विकं त्रिकञ्चापि चतुष्कं पञ्चकं तथा। नामार्था इति सर्वेऽमी प्राचां ग्रन्थे निरूपिताः।" स्त्रीप्रत्ययाः टाप्, चाप्, ङीप्, ङीष् ङीन्, ऊङ्, ति इति सप्तविधा एव सन्ति, ये च स्त्रीप्रत्ययप्रकरणे संक्षेपतो निर्दिश्यन्ते।

# अथ कारकप्रकरणम्

क्रियया साक्षात् सम्बन्धभागेव कारकमुच्यते तस्य षडेव भेदा भवन्ति। यतो हि षण्णामेव पदार्थानां क्रियया सह साक्षात् सम्बन्धो भवितुमर्हति।

तथाहि—(१) क्रियायाः स्वतन्त्र आश्रयः कर्ता यथा—गिरिधरोऽस्ति।

(२) क्रियायाः फलाश्रयः कर्म यथा—ग्रामं गच्छति।

(३) क्रियायाः सिद्धावत्युपकारकं करणम् यथा—सूच्या सीव्यति।

(४) क्रिया यस्य कृते भवति तत्सम्प्रदानम् यथा—फलाय धावति। क्रियाकर्मणा यस्य सम्बन्धः कर्तुमिष्टः तदपि सम्प्रदानं कथ्यते यथा-विप्राय गां ददाति।

(५) क्रिया यतः पृथक् भवति तदपादानम् यथा अश्वात् पतति।

(६) क्रियायाः क्रियाजन्यफलस्य च परम्परया आश्रयः अधिकरणम् कथ्यते। यथा—कटे शेते शिशुः। स्थाल्यां पचति तण्डुलम्। षष्ठ्यन्तपदार्थो हि कारकं भवितुन्नार्हति यतस्तस्य क्रियया सह साक्षात् सम्बन्धो नैव भवति। किन्तु केनापि तत्सम्बन्धिना वस्तुना (कारकेण) तस्य सम्बन्धो जायते। यथा—मम पुत्रः पठति। अत्र मदर्थस्य पुत्रेण सह सम्बन्धो नतु पठनरूपक्रियया। यत्र षष्ठ्यन्तार्थस्य क्रियया सह सम्बन्धो भवति तत्र स कारकं भवत्येव यथा—तण्डुलानां पाचकः। एकस्मिन् वाक्ये सर्वकारकोदाहरणम्. यथा—राजानो द्रव्यराशिं स्वहस्तेनैव

मालवीयमहोदयेभ्य आत्मनः कोशात् उद्धृत्यात्र भारते ददति—अत्र 'ददति' इति क्रियापदम् तत्र दानक्रियायां दानकर्तृत्वाश्रयाः राजानः सन्ति, अतस्ते 'कर्तृकारकम्' इति नाम्नोच्यन्ते। द्रव्यराशिः दीयमानोऽस्ति, (त्यज्यमानोऽस्ति) अतः स 'कर्मकारकम्' मालवीयमहोदया दानक्रिया-कर्मणा सम्बद्धाः क्रियन्ते अतस्ते दानपात्रतया 'सम्प्रदानकारकम्'। दाने हस्तः साहाय्यमाचरतीति सः 'करणकारकम्' कोशात् उद्धृत्योद्धृत्य द्रव्यराशिः प्रदीयते, इति पृथक्करणक्रियायाः (उद्धरणक्रियायाः) अपा-दानतया कोशः 'अपादानकारकम्' अत्रभारते दानक्रिया भवतीति दान-क्रियाधारतया-भारतम् 'अधिकरणकारकम्'। इत्थं हीमे षडपि पदार्थाः क्रियया सह निजसम्बन्धं साक्षात् संस्थापयन्ति अतस्ते कारकपदवाच्या भवन्ति, तत्रैव 'आत्मनः' इति पदस्य अर्थः दानक्रियया सम्बन्धं विहाय केवलं कोषपदार्थेन सम्बन्धं संस्थापयति अतो हि स षष्ठ्यन्तपदार्थः कारकं नोच्यते। यतो हि सर्वत्रैव वाक्ये क्रिया हि कर्तारमपेक्षिष्यते। कर्मणि स्वफलं जनयिष्यति। केनापि कारणेन-निष्पन्ना भविष्यति। कस्यापि कृते स्थास्यति। कुतोऽपि विभागः क्रिययैव भविष्यति। कस्मिंश्चिदाधारे एव क्रिया निष्पन्ना भविष्यति। यत्र षष्ठ्यन्तार्थस्य क्रियया सह सम्बन्धो नैव भविष्यति। तत्र स कथमपि कारकसंज्ञां नैव लप्स्यते। यत्र सम्बन्ध-विवक्षया षष्ठ्यन्तार्थस्य क्रियया सह सम्बन्धो जायते तत्र तु कर्तरि कर्मणि वा षष्ठी विभक्तिर्भवत्येव, परन्तु तत्र सा कारकषष्ठीति न कथ्यतेऽपितु-सम्बन्धषष्ठीत्युच्यते, यथा—सतां गतम्। सर्पिषो जानीते। इत्यादि-कम्। प्रथम—कारकञ्च केवल—प्रातिपदिकार्थमात्रबोधनेऽपि प्रयुज्यते। तत्रापि यत्र न कापि क्रिया स्यात्तत्रास्तिः प्रयुज्यते। इति नियमादस्ति-प्रयोगोऽध्याह्रियते। अतश्च तत्रापि क्रियासम्बन्धस्तिष्ठत्येव, यथा—वेदः, स्मृतिः पुराणम्। इत्थं हि प्रातिपदिकस्यार्थेन सह लिङ्गमात्रस्याधिक्य-बोधने तटः, तटी तटम्। एवं परिमाणमात्रस्याधिक्ये द्रोणो व्रीहिः। एकत्वद्वित्वबहुत्वमात्रस्य चाधिक्यबोधने एकः द्वौ, त्रयः। कुत्रापि शब्दः

निर्विभक्तिकः प्रयोक्तुम शक्यते । उक्तञ्च पतञ्जलिना-अपदं न प्रयुञ्जीत। सुपा तिङा वा क्वापि प्रकृतिर्न ह्यातव्या न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवलः प्रत्यय इति निष्कर्षो ज्ञेयः। यतो हि संस्कृते केवलप्रकृति-प्रयोगेण न कोऽप्यर्थो भासते, स हि प्रयोगो निरर्थकोऽशुद्धश्च भवति 'रामः' इति सविभक्तिकप्रयोगेण तु रामार्थस्य बोधो भवतिः परन्तु 'राम' इति निर्विभक्तिक-शब्द-कथनेन कस्याप्यर्थस्य संस्कृत-भाषायां ज्ञानं न जायते। सम्बोधनपदमपि सविभक्तिकमेव भवति, किन्तु तत्र विभक्तेर्लोपेन तद्दर्शनं न जायते। एवमव्ययपदमपि सविभक्तिकमेव तिष्ठति, विभक्ते-स्तत्राव्ययत्वात् 'अव्ययादाप् सुपः।' इति लुग् भवति, अतश्चाव्ययमपि 'सुबन्तत्वात्' पदमुच्यते। इत्थञ्च यत्र न कस्यापि कारकस्य सम्भावना तत्रापि प्रथम—कारकम् अस्तिभवत्योरध्याहारेण प्रयोक्तव्यमिति सुस्थिरम्। कारकञ्च षड्विधम् यथा—

कर्ता कर्म च करणं सम्प्रदानं तथैव च।
अपादानाधिकरणमित्याहुः कारकाणि षट्॥

साक्षात् क्रियान्वयित्वं कारकत्वमिति परिष्कारात् षष्ठ्यन्तस्य साक्षात् क्रियान्वयाभावात् न कारकत्वम्। इति षडेव कारकाणि।

## समासः

समसनं संक्षेपकरणं समास इत्युच्यते सम्पूर्वकात् अस् धातोर्भावे घञि समास इति शब्दो निष्पद्यते। समासः संक्षेपः व्यासः विस्तारः। इति पर्य्यायशब्दौ परस्परं भिन्नौ स्तः। समासे हि द्वयोर्बहूनां वा पदानां विभक्तयो लुप्ता भवन्ति, ततश्च सन्धिना सम्मिलिताः शब्दाः पूर्वपदापेक्षया स्वल्पाकारा भवन्ति इत्यन्वर्थेयं संज्ञा विद्यते। उदाहरणं, यथा—देशस्य भक्तः=देशभक्त इति लौकिक विग्रहे, देश ङस् भक्त सु इत्यलौकिक-विग्रहे 'षष्ठी' इति सूत्रेण तत्पुरुषसमासे षष्ठयाः प्रथमायाश्च विभक्तेर्लुकि

केवलं 'देशभक्त' इत्येकः शब्दस्सञ्जायते। तस्य च समासत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां स्वाद्युत्पत्तौ देशभक्तः देशभक्तौ, देशभक्ता इत्यादीनि रामवद् रूपाणि जायन्ते। समासशक्त्या च देश-सम्बन्धी भक्त इत्यर्थो जायते। एवमेव बहूनां पदानां मिश्रणेन महद्दीर्घं पदम् निर्मातुं शक्यते। यथा निर्भीकश्चासौ देशभक्तः इति विग्रहे कर्मधारय-समासं कृत्वा उभयोः शब्दयोर्विभक्त्योर्लुकि शब्दमात्रसम्मेलने 'निर्भीकदेशभक्त' इतिशब्दस्य समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायाम् स्वाद्युत्पत्तौ निर्भीकदेशभक्तः, निर्भीकदेशभक्तौ, इत्यादीनि रामवत् शब्दरूपाणि ज्ञेयानि, पुनश्च निर्भीकदेशभक्ते श्रद्धा निर्भीकदेशभक्तश्रद्धा, इत्येवं महान् दीर्घाकारः शब्दस्समासोपरि समासं कुर्वता निर्मातुं शक्यते। इत्यस्मादेव हेतोः समासबहुलतया संस्कृते काठिन्यमायाति। कादम्बरीग्रन्थे सम्यक् समासविन्यासो विद्यते। समासादिषु अर्थविबोधनार्थं पदविवरणात्मना पदानां पृथक् पृथक् उपन्यासो विधीयते स एव विग्रहः कथ्यते। यथा देशभक्त शब्दे एव, देशस्य, भक्तः इति विग्रहः पूर्वमुक्तः। तथाचोक्तम्। ( वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः ) समासभेदेन समासविग्रहस्यापि भेदो विद्यते तत्र समासस्य साधारणतया षड् भेदाः सन्ति। तथाहि—

[ १ ] अव्ययीभावः, [ २ ] तत्पुरुषः ( ३ ) द्विगुः ( ४ ) कर्मधारयः [ ५ ] द्वन्द्वः ( ६ ) बहुव्रीहिश्चेति तत्र चतुर्णामेव प्राधान्यम्। प्रायश्चत्वार एव समासाः तत्पुरुष कर्मधारय-द्वन्द्व-बहुव्रीहयो बाहुल्येन संस्कृतवाक्येषु प्रयुक्ता उपलभ्यन्ते। समासविषयकमेकं प्राचीनं पद्यं विद्यते।

द्वन्द्वो द्विगुरपि चाहं मद्गेहे नित्यमव्ययीभावः।
तत्पुरुष कर्मधारय येनाहं स्याम्बहुव्रीहिः॥

अत्र षण्णामपि समासानां नामानि सन्ति। चतुर्णां समासानाम् प्रदर्शनार्थमप्येकं पद्यं विद्यते।

चकारबहुलो द्वंद्वः स चासौ कर्मधारयः ।
यस्य येषां बहुव्रीहिः शेषस्तत्पुरुषो मतः ॥

यत्र 'च' शब्दस्य बाहुल्येन प्रयोगो भवति स द्वन्द्वसमासविग्रहो ज्ञेयः । यत्र 'सचासौ' इत्येवं कथनं स्यात् स कर्मधारय-समास-विग्रहो बोध्यः । यत्र यस्य, यस्मिन् इत्यादि पदानां प्रयोगः स्यात् स बहुव्रीहि-विग्रहो मन्तव्यः । यत्र पूर्वपदं द्वितीयादिविभक्त्यन्तमुत्तरपदञ्च प्रथमान्तमिति स शेषः तत्पुरुषः—तथाहि रामश्च कृष्णश्च = रामकृष्णौ द्वन्द्वः । चतुरश्चासौ छात्रः = चतुरच्छात्रः कर्मधारयः, प्रियो देशो यस्य = सः प्रियदेशः [ नेता ] बहुव्रीहिः । वेदस्य अध्ययनम् = वेदाध्ययनम् तत्पुरुषः । एतेषां समासानां द्रागवबोधाय सरलोपायोऽयमस्ति । तथाहि यत्र पूर्वपदं प्रधानं सोऽव्ययीभावः यथा उपकुम्भम् । यत्रोत्तरपदम् प्रधानम् स तत्पुरुषः यथा राजपुत्रः । स एव विशेषण-विशेष्यात्मकः सन् विशेष्यप्रधानः कर्मधारयः यथा चतुरच्छात्रः । यत्रोभयं पदं प्रधानम् स द्वन्द्वः यथा शिवकेशवौ । यत्र समस्तपदादन्यत् पदं प्रधानम् स बहुव्रीहिः यथा प्रियपुत्रः । इत्येवं संक्षेपतः समासविधिर्निरूपितः । सम्प्रति—विशेषेण निरूप्यन्ते ते समासाः पृथक् पृथक् ।'

## अव्ययीभावः ।

अनव्ययम् अव्ययं सम्पद्यते इत्यव्ययीभावः । यद्धि पदं समासात् पूर्वमव्ययन्नास्ति कृते समासे तु अव्ययं जायते तद्धि अव्ययीभाव-समास-पदं कथ्यते । इत्यन्वर्थेयं संज्ञा । अत्र समास-विग्रहे एकं पदं प्रायेण अव्ययम्भवति । द्वितीयं पदं तु तद्व्यतिरिक्तमेव भवति । परन्तु समासे कृते 'समस्तं सर्वमेव पदमव्ययम् भवति । तदीयं स्वरूपंच नपुंसकलिङ्गस्य प्रथमैकवचनान्तपदवदेव सम्पद्यते । तादृशं रूपं सर्वास्वपि विभक्तिषु भवति । यथा गृहस्य समीपम् उपगृहम्, अत्र समीपार्थकेन उपेत्यव्ययेन गृहस्येति पदस्य समासे विभक्तेर्लुकि 'उपगृहेति' समस्त-

पदस्य अव्ययत्वम् अव्ययार्थप्राधान्यादेकवचनं च जायते । ततश्च स्वादिविभक्तीनाममादेशे 'उपगृहम्' इत्येव रूपम् सर्वास्वेव विभक्तिषु जायते । केवलं अदन्तशब्दानाम् पञ्चम्याम् नित्यम्, तृतीया-सप्तम्योर्विकल्पेन तत्तद्विभक्तिकार्य्याणि जायन्ते । यथा उपगृहम् उपगृहेण, उपगृहम् उपगृहात्, उपगृहम् उपगृहे इति । द्वित्वबहुत्वे तु न भवतः । अव्ययार्थप्राधान्येन एकत्वार्थस्यौत्सर्गिकत्वात् । ईदृशान्येव सर्वेषामपि अदन्ताव्ययीभावशब्दानां रूपाणि भवन्ति । इकारान्तादिशब्दानान्तु न क्वापि विकारो जायते ।

## तत्पुरुष–समासः

तत्पुरुषशब्दो हि ईदृग् विद्यते यस्य अर्थव्युत्पत्त्यैव तत्पुरुषसमासीयविग्रहस्य मनाक् प्रतीतिर्जायते । तथाहि तस्य पुरुषः तत्पुरुष इत्येवं तत्पुरुष–समासो भवति । अथवा स चासौ पुरुषस्तत्पुरुष इत्येवं कर्मधारयसमासो भवति । अनेन समासद्वयसाधकविग्रह करणेनेदमेव सूच्यते यदस्मिन् तत्पुरुषसमासे एको विग्रह ईदृशः क्रियते यत्र पूर्वपदे प्रथमातिरिक्ता द्वितीयादिविभक्तिस्तिष्ठति । सहि 'व्यधिकरणतत्पुरुषशब्देनोच्यते । तमेव केचित् द्वितीयातत्पुरुषः तृतीयातत्पुरुष इत्यादि संज्ञयापि कथयन्ति । द्वितीयश्च तत्पुरुष-समास-विग्रह ईदृशः क्रियते यत्रोभयस्मिन्नपि पदे समानैव प्रथमा विभक्तिर्दृश्यते, तयोश्च विशेषणविशेष्यभावोऽपि तिष्ठति स एव समानाधिकरण-तत्पुरुष-समासोऽभिधीयते । स हि 'कर्मधारय' इति संज्ञामपि लभते । तत्रैव यदि पूर्वपदे संख्यावाचिनः शब्दा भवन्ति तदा तस्य 'द्विगु'–रिति नाम भवति । यथा सप्त च ते ऋषयः = सप्तर्षयः । समासः संख्यापूर्वतया कर्मधारय इति संज्ञामलब्ध्वा द्विगुरिति संज्ञां लभते । यदा च पूर्वपदे 'नञ्' शब्दप्रयोगो जायते तदा तस्य नञ्तत्पुरुष इत्याख्या भवति । यथा—न ब्राह्मणः = अब्राह्मण इत्येवमादि । एवम् सर्वेषामपि उदाहरणान्यग्रे स्फुटीभविष्यन्ति ।

## कर्मधारयः

अयंहि कर्मधारय–समासः तत्पुरुषस्यैवैको भेदोऽस्ति । यत्र विशेष्य-विशेषणभावः प्रधानतया भवति तत्रैव कर्मधारयसमासो जायते । अस्यैव समानाधिकरण तत्पुरुष इत्यपि नामान्तरं विद्यते । अस्य समासस्य विग्रह-वाक्ये उभयपदयोर्मध्ये विशेष्यानुसारेण तच्छद्रस्यादश्शब्दस्य वा रूपस्यो-ल्लेखो जायते यथा वीरश्चासौ रामः वीररामः । रक्ता चासौ लता रक्तलता । नीलञ्च तदुत्पलम् नीलोत्पलम् इत्यादि । द्विवचनबहुवचनयोरपि सर्वलिङ्गेषु लिङ्गानुसारेण विग्रहवाक्यं प्रयोज्यम् ।

## अथ बहुव्रीहिः—

अयं समासोऽप्यन्यसमासवत्स्वशब्दविग्रहेणैव स्वार्थबोधकतया अन्वर्थ-संज्ञकोऽस्ति । तथाहि बहुः व्रीहिर्यस्य स बहुव्रीहिः इति शब्देऽन्यपदार्थ-प्रधानतया अस्मिन् समासे समासस्थोभयपदव्यतिरिक्तमन्यदेव पदं प्राधान्यम् भजते । समासश्चायं समानाधिकरणतत्पुरुष-( कर्मधारय- ) वत् विशेषणविशेष्यपदैरेव भवति । परन्तूभयोर्मध्ये इयान् भेदो विद्यते यदत्र बहुव्रीहिसमासे जाते उभयमपि पदं मिलित्वा एकशब्दीभूय अन्यस्य विशेषणं भवति । यथा रामः ईश्वरः यस्य सः रामेश्वरः ( शिवः ) अत्र राम इति विशेषणम् ईश्वर इति विशेष्यम्, समासे जाते एकशब्दीभूय पुनः शिवस्य विशेषणं भवति । कर्मधारये तु नैवं संभवति, तत्र तु समासे जाते समस्तं पदं विशेष्यरूपमेव तिष्ठति । यथा—रामश्चासौ ईश्वरः रामेश्वर इति । इह हि रामस्य ईश्वर इति विग्रहे तत्पुरुषोऽपि भवति । उक्तञ्च "रामस्तत्पुरुषं प्राह बहुव्रीहिं शिवोऽब्रवीत् । रामेश्वर पदे कश्चित्कर्मधारयमुक्तवान्" इति । इत्थंहि सर्वत्रैव समस्तपदेषु विग्रहभेदेन समासभेदो ज्ञेयः । यथा—लोकः नाथः यस्य स लोकनाथः ( बहुव्रीहिः )

लोकस्य नाथः लोकनाथः ( तत्पुरुषः ) इत्यादिषु विग्रहवाक्येन बहुव्रीहि-तत्पुरुषयोर्भेदो ज्ञेयः । अत्रापि विषये प्राचीनं पद्यमेकं विद्यते । तथाहि "अहञ्च त्वञ्च राजेन्द्र ! लोकनाथावुभावपि । बहुव्रीहिरहं राजन् षष्ठीतत्पुरुषो भवान्" इति । बहुव्रीहेरपि भेदद्वयं विद्यते । एकः समानाधिकरणबहुव्रीहिः । द्वितीयो व्यधिकरणबहुव्रीहिश्चेति । यथा-नीलम् अम्बरं यस्य स नीलाम्बरः । अत्रोभयमपि पदं प्रथमान्तमेवास्तीति समानाधिकरणो बहुव्रीहिः । चन्द्रः शेखरे यस्य स चन्द्रशेखरः इत्यत्रैकं प्रथमान्तं द्वितीयञ्च सप्तम्यन्त-मिति व्यधिकरणो बहुव्रीहिः । एवं मृगस्य नयने इव नयने यस्याः सा मृगनयनी बाला इत्यादिषु बहुव्रीहिर्बोध्यः ।

## अथ द्वन्द्वः—

द्वे द्वे इति द्वन्द्वम्, इति विग्रहेण सिद्धोऽयं द्वन्द्वशब्दः सार्थक एव । यतो ह्यत्र उभयोरपि द्वन्द्वस्थपदयोः प्राधान्यं तिष्ठति । अस्य त्रयो भेदा भवन्ति—१ इतरेतरयोगः, २ समाहारः, ३ एकशेषश्चेति, तत्र एकशेष-स्येतरेतरयोग एवान्तर्भावात्प्राधान्येन द्वौ एव भेदौ शास्त्रे गृह्येते । अस्य समासस्याप्यन्वर्थतया अत्र येषां पदानां समासो भवति तानि सर्वाण्यपि प्रथमान्तान्येव भवन्ति । विग्रहवाक्ये तु मध्ये मध्ये च शब्दस्य प्रयोगो बाहुल्येन जायते । समस्ते पदे चकारश्रुतिर्न जायते, विग्रहगतान्यन्यानि पदानि निर्विभक्तिकानि भूत्वा एकशब्दीभूय तिष्ठन्ति । तत्रेतरेतरयोगे उत्तरपदानुरूपं लिङ्गं ज्ञेयम् । शब्दद्वये द्विवचनम्, शब्दबाहुल्ये बहुवचन-मिति । समाहारे तु एकवचनं नपुंसकञ्च जायते । एकशेषे तु समासे जाते एक एव शब्दोऽवशिष्यतेऽन्यस्य तु लोप एव भवति, समासविग्रहो यथा—रामश्च कृष्णश्च रामकृष्णौ ।

## तद्धिताः—

तस्मै हितम् तद्धितम् इति विगृह्य चतुर्थीतत्पुरुषसमासेन निष्पन्नोऽयं शब्दः। तस्मै वैयाकरणाय अथवा नाम्ने प्रयोगकरणाय वा ये प्रत्यया बहुहितमादधति ते हि तद्धितप्रत्ययाः कथ्यन्ते। यथा—यत्र अयं व्याकरणमधीते इति वक्तव्यं विद्यते तत्रैव वैयाकरणोऽयम् इत्युक्ते शब्दप्रयोगकर्तुर्वैदुष्यं गाम्भीर्य्यं प्रयोगेऽपि लालित्यं प्रतीयते। अतश्च यस्य प्रयोगेण वैयाकरणानां हितं भवति तच्च तद्धितमिति अन्वर्थेयं संज्ञा। इदञ्च मया पूर्वमेवोक्तं यत् पाणिनिः प्रत्ययादौ अनुबन्धसन्निवेशेन बहुकृत्यम् साधयति। इह तद्धितप्रत्ययेष्वपि णित् कित् ञित् टिदादिना आदिवृद्धिप्रभृतिकार्य्याणि साधयत्येवेति तत्र तत्र स्थलेषु द्रष्टव्यम्।

# पारिभाषिकसंज्ञार्थाः

अन्वर्थसंज्ञा विहिता महर्षिभिः
पुरातनैर्व्याकृति - शास्त्र - पारगैः ॥
कालप्रभावेण विलोपमागता
तदर्थ-संज्ञानमुदाहरे कियत् ॥

व्याकरणमहाभाष्ये पतञ्जलिनाऽभिहितम् "महतीयं संज्ञा क्रियते। संज्ञा च नाम, यतो न लघीयः। कुत एतत्, लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्। तत्र महत्याः संज्ञायाः करणम्, एतत्प्रयोजनम्, अन्वर्थाः संज्ञा यथा विज्ञायेत" इति भाष्येण विज्ञायते यत् द्विविधा संज्ञा शब्दशास्त्रे समुपदिष्टा। एकाक्षरा रूढ़िरूपा बह्वक्षरा चान्वर्थेति। तत्र टि, घि, घु, घ, भ, इत्याद्या एकाक्षरास्तु स्व-स्वार्थबोधायाष्टाध्याय्यां तत्तत्सूत्रैः पारिभाषिकरूपेण स्वयमुपदिष्टाः। तैः सूत्रैरेव तासामर्थाः स्फुटीभवन्ति इति तत्र नास्ति मे प्रयासप्रयोजनम्। तथाहि - 'अचोऽन्त्यादि टि।' 'शेषो घ्यसखि।' 'दाधा घ्वदाप्।' तरप्तमपौ घः।' 'यचि भम्।' इत्यादि।

अन्वर्थाः संज्ञा हि भूयस्यः सन्ति। पाणिनीयाष्टाध्याय्यां प्रायः तासां संख्या पञ्च-सप्ततिर्विद्यते। ता हि कमर्थं बिभ्रति इति साम्प्रतिका वैयाकरणा अपि च्छात्रा विस्मृतिं गताः सन्ति। यतो हि व्याकरणसंज्ञानामर्थस्याध्ययनाध्यापन-पद्धतिरुच्छिन्नप्राया दृश्यते। इत्यत एव तामुज्जीवयितुमिहान्वर्थसंज्ञानामर्थकरणप्रकारदिङ् मया निर्दिश्यते। वैयाकरणा

विद्वांसोऽग्रे स्व-स्व-शिष्यान् स्वबुद्धया स्वयं समूह्याऽन्वर्थसंज्ञानामर्थान् बोधयन्तु । इत्येव मेऽभ्यर्थना ।

( १ ) 'प्रत्याहारः'—प्रत्याह्रियन्ते—संक्षिप्यन्ते वर्णा यत्र स प्रत्याहारः । इत्यत्र प्रति + आ- पूर्वकात् हृधातोरधिकरणेऽर्थे घञि प्रत्यये धातोर्वृद्धौ निष्पन्नस्य प्रत्याहारशब्दस्यार्थज्ञानं सुशक्यम् भवति ।

( २ ) 'ष्णान्ताः षट्' इति सूत्रेण षष्, पञ्चन्, सप्तन्, अष्टन्, नवन्, दशन्, इति षण्णामेव प्रातिपदिकानां ( शब्दानाम् ) इयं संज्ञा विद्यतेऽतोऽस्याः 'षट्' इति संज्ञाऽन्वर्था । यथा लोके अम्बुधयः समुद्राः चत्वार इति 'अम्बुधि समुद्रादि–शब्देन चतुर्णां बोधो जायते ।

( ३ ) 'सार्वधातुकमपित्—इत्यत्र सार्वधातुकप्रत्ययाः तिङः शितः च सर्वेभ्य एव धातुभ्यः सर्वेषु च लकारेषूपतिष्ठन्ते । यद्यपि शित्प्रत्यया आर्द्धधातुकेषु बाधिता भवन्ति तथापि योगत उपस्थितिस्तु तेषां सर्वत्रैव विद्यत इति सार्वधातुकेति संज्ञाऽन्वर्था ।

( ४ ) 'आर्धधातुकं शेषः'—आर्द्धधातुकप्रत्यया इट्, स्य, तास्, क्ति, तृच्-प्रभृतयोऽर्द्धेभ्य एव धातुभ्योऽर्द्धेष्वेव लकारेषु भवन्तीति तेषामार्धधातुकसंज्ञाऽन्वर्था ।

( ५ ) 'सर्वादीनि सर्वनामानि'—ये हि शब्दाः सर्वेषां प्रातिपदिकानां नामानि ( प्रतिपादकाः पोषका इति यावत् ) सन्ति । सर्वेषामेव नाम्नां यैः कार्य्यं साध्यते त एव शब्दाः सर्वनामानि । यथा हरिः अत्रासीत्, स क्व गतः । सीता वीरबालाऽस्ति, सा नारीणामुत्तमा । इत्यादिषु तच्छब्दः 'हरि' 'सीता' इत्येतयोरुभयोरपि नाम्नोः कार्य्यं स्वयं साधयतीति सर्वनामसंज्ञाया अन्वर्थता ।

( ६ ) 'शि सर्वनामस्थानम्'—सर्वेषां नाम्नां ( प्रातिपदिकानां ) स्वरूपस्थितानां स्थानम् । यत्र हि नामानि स्वरूपं वर्द्धयित्वैव तिष्ठन्ति । भ-पद-संज्ञाकृतविकृतिं नैव गच्छन्ति, तत् सर्वनामस्थानम् ।

( ७ ) 'अदेङ्गुणः' – यत्र वर्णाः स्वरूपं विहाय कञ्चन गुणं स्वस्मिन् स्थापयन्ति ( बिभ्रति ) यथा इकार एकारो भूत्वा, उकारश्च ओकारो भूत्वा स्वस्मिन् विशिष्टं गुणं बिभृत इति एकारस्य ओकारस्य च गुण-संज्ञान्वर्था ।

( ८ ) 'वृद्धिरादैच्'—यत्र वर्णा वृद्धिं गच्छन्ति । गुणादपि निज-रूपमधिकं वर्द्धयन्ति । यथा इकार ऐकारो भवति । उकारश्च औकारो जायते । इति वृद्धिरन्वर्था संज्ञा । अत एव पाणिनिना सर्वप्रथमं 'वृद्धि-रादैच्' इत्येव सूत्रम् अष्टाध्याय्यां मङ्गल-कामनया पठितम् । यच्च पतञ्जलि-नाऽपि "मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीर-पुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति ।" इत्यादिना समर्थितम् ।

( ९ ) 'निपात एकाजनाङ्'—ये स्वयमकस्मादेव निपतन्ति । ( नितरां पतन्ति ) प्रकृतिप्रत्यययोगतो न निष्पाद्यन्ते । ते निपाता इत्यन्वर्थता तेषाम् ।

( १० ) 'उपसर्गाः क्रियायोगे'—धातुमुपेत्य सृजन्ति विविधान् अर्थान् इत्युपसर्गाः । यथा—उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते । विहाराहारसंहारप्रहारपरिहारवत् । इति ।

( ११ ) 'गतिश्च'—गमयति अर्थान्तरं पदानि । आहोस्वित् गम्य-तेऽर्थो यया सा गतिरित्यन्वर्थताऽस्याः संज्ञायाः ।

( १२ ) 'इग्यणः सम्प्रसारणम्'—सम्यक् प्रसारणम् विस्तारकरणम् अर्द्धमात्रिकस्य यकारस्य एकमात्रिक इकारः क्रियत इति सम्प्रसारण-शब्दः स्फुटमन्वर्थः ।

( १३ ) 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्'—प्रकृतिप्रत्ययोरङ्गा-ङ्गिभावसम्बन्धोऽस्ति । अतश्च प्रधाने प्रत्ययेऽङ्गित्वम् प्रकृतौ चाङ्गत्वम् । इत्यतश्च प्रकृतेरङ्गसंज्ञाऽन्वर्था ।

( १४ ) 'कृदतिङ्'—करोतीति कृत् इति विगृह्य क्विप् प्रत्ययेन निष्पादितः कृच्छब्दः कर्त्रर्थबोधकः । अतश्च ये प्रत्ययाः कर्त्रर्थबोधकास्त एव कृत्प्रत्यया इत्यन्वर्थेयं संज्ञा ।

( १५ ) 'कृत्याः'—क्रियते इति 'कृत्यम्' इति व्युत्पत्त्या 'विभाषा कृवृषोः' इति सूत्रेण क्यपि सिद्धस्य 'कृत्य' शब्दस्य कर्मार्थवाचकता अतश्च कर्मणः ( अकर्मकधातोश्च भावस्य ) प्रतीकतया तयोरेवार्थयोः 'कृत्य'-प्रत्ययो जायते इत्यन्वर्थताऽस्य ।

( १६ ) 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'—पदम् पदम् इति प्रतिपदम् तत्र भवः प्रातिपदिकम् । इति सर्वत्रैव पदेषु प्रातिपदिकत्वम् तिष्ठत्येवेत्यन्वर्थताऽस्य । अथवा प्रतिपदि भवः प्रातिपदिकश्चन्द्रस्तेन तुल्यं शब्दस्वरूपं प्रातिपदिकम् । यथा प्रतिपदि चन्द्र उदित्वा तिथिभिर्युक्तो वर्द्धते तथैव प्रातिपदिकमपि सुबादिविभक्तिभिर्युक्तं सद् वर्द्धते इत्यन्वर्थताऽस्य । चन्द्रस्य प्रातिपदिकत्वं प्राक्तनैरप्यङ्गीकृतम् तथाहि— "कीदृग्धीरः पदं ब्रूते को रोगी कश्च नास्तिकः । नमस्यन्ति च चन्द्रं कं तच्छास्त्रं पाणिनेर्वद" इत्यस्योत्तरे इदमेव सूत्रं निगद्यते । इति प्रातिपदिकश्चन्द्रोऽभिधीयते ।

( १७ ) 'तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः'—कर्म ( विशेषणं ) धारयतीति कर्मधारयः । अत्र कर्म—पूर्वक—'धारि' इति ण्यन्तधातोः पचादित्वाद् अचि प्रत्यये गुणे अयादेशे 'कर्मधारय' इति शब्दः सिध्यति' तस्यार्थो भवति विशेषणधारको विशेष्यः । फलतो यत्र विशेष्यः प्रधानीभूय गौणतया विशेषणं धारयति । स्वयं बहुव्रीहिवद् अन्यस्य विशेषणतयाऽप्रधानीभूय गौणतां न गच्छति स शब्दः कर्मधारय इत्यन्वर्थः ।

( १८ ) 'चार्थे द्वन्द्वः'—'द्वन्द्वं रहस्यमर्य्यादावचनव्युत्क्रमयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु' एतेष्वर्थेषु 'द्वन्द्व'-शब्दः प्रयुज्यते । तत्राभिव्यक्तिरूपोऽर्थ इह गृह्यते [illegible] विज्ञानमभिव्यक्तिरित्यर्थोऽत्र

समासेऽन्वितस्तिष्ठति । यतोहि द्वन्द्वे सर्वाण्येव पूर्वोत्तरपदानि प्रधानान्येव तिष्ठन्ति ।

( १९ ) 'तत्पुरुषः'–तस्य पुरुषः = तत्पुरुषः । स चासौ पुरुषः = तत्पुरुषः इत्युभयस्यापि विग्रहस्य निदर्शकः 'तत्पुरुष' शब्दः प्रतीकरूपेण गृहीतः । तत्र प्रथम-विग्रहः केवलतत्पुरुषबोधकः । द्वितीयस्तु कर्मधारयाख्यतत्पुरुषबोधक इति विवेकेन तस्य सार्थकता ज्ञेया ।

( २० ) 'शेषो बहुव्रीहिः'––बहवो व्रीहयो यस्य स बहुव्रीहिः । इति अन्यपदार्थप्रधानो 'बहुव्रीहि'–शब्दः विग्रहेण साक्षादेव स्वार्थप्रतीक इति सार्थिकेयं संज्ञा ।

( २१ ) 'संख्यापूर्वो द्विगुः'—द्वाभ्यां गोभ्यां क्रीतो द्विगुः । इति विग्रहे 'तेन क्रीतम्' इति तद्धितार्थे ठकि तस्य च लुकि ह्रस्वादि कार्ये द्विगुशब्दो निष्पद्यते । इत्येवं द्विगुशब्दोऽयं तद्धितार्थप्रतीकतया संख्यापूर्वकत्वाच्च द्विगुसमासस्य सम्यक् प्रातिनिध्यमावहति ।

( २२ ) 'अव्ययीभावश्च'––न अव्ययः अनव्ययः अनव्ययः अव्ययो भवतीति अव्ययीभावः । अत्र समासे 'उपकृष्णम्' इत्यादिषु अनव्ययशब्दा अव्ययतां गच्छन्तीति अन्वर्थः 'अव्ययीभाव'–शब्दः ।

( २३ ) 'तद्धिताः'—'तस्मै हितम्' इत्यादिना सूत्रेण तत्सम्बन्धिहितेऽर्थे तद्धितप्रत्यया विधीयन्ते । अतश्च प्राधान्यात् तस्यैव सूत्रस्य प्रतीकतया 'तद्धित' इति संज्ञा । अथवा तस्मै वैयाकरणाय हिताः हितकराः ( प्रत्ययाः ) 'तद्धिताः' इत्यर्थेनाप्यन्वर्थता ज्ञेया तद्धितप्रयोगेण प्रौढवैयाकरणता द्योत्यते । महावैयाकरणा एव तद्धितान्तप्रयोगान् प्रयुञ्जते । तथाहि किंवदन्ती "तद्धितमूढोऽवैयाकरणः कः कृदन्तं विना कविः"

( २४ ) 'प्रत्ययः'––प्रतीयते प्रधानतया ज्ञायते इति प्रत्ययः । आहोस्वित् प्रत्येति प्रकृतिम् प्रति एति गच्छति इति प्रत्ययः । इत्येवमुभयथाऽपि विगृह्य 'प्रत्यय–शब्दनिर्माणेऽन्वर्थतैवास्याः संज्ञायाः ।

( २५ ) 'पूर्वोऽभ्यासः'–एकस्य वारं वारम् उच्चारणमेव तु अभ्यासः। एवं सति मूलशब्द एव द्विरुच्चरितः 'अभ्यास'-संज्ञको जायते। अतश्च पूर्व-शब्दस्य 'अभ्यास' इति संज्ञा सार्थिकैव।

( २६ ) 'उभे अभ्यस्तम्'—अभ्यासेन पुनः पुनरुच्चारणेन जातम् अभ्यस्तम्' इत्युभयमेव 'अभ्यस्त'–संज्ञया बोध्यतेऽतः सार्थकतास्याः संज्ञायाः।

( २७ ) 'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा'—उपसमीपे धीयते स्थाप्यते इति उपधा अन्तिमाक्षरस्य समीपस्थो वर्णः 'उपधा' इति सार्थकतास्याः संज्ञायाः।

एवमेवं सर्वेऽपि महासंज्ञास्थाः शब्दाः सार्थका ज्ञेयाः दिङ्मात्रमिह दर्शितम् वैयाकरणानामेतद्विषयिणीं प्रवृत्तिं जागरितुम् इत्यलम्।

शिवं भूयात्।



# अत्र कियतां सुप्रसिद्धविदुषां सम्मतयः—

भूतपूर्वकाशीकराजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयाध्यक्षाणाम्महामहोपाध्यायानां साहित्यवाचस्पतीनां पं० श्रीनारायणशास्त्रिखिस्ते महोदयानां सम्मतिः।

श्रीमद्भिर्महामहाध्यापक दर्शनकेसरि महापण्डित श्रीगोपालशास्त्रिभिः सङ्कलितं "पाणिनीयप्रबोधं" निरीक्ष्य भृशं परितुष्टोऽस्मि। विश्वसिमि च यदनेन ग्रन्थरत्नेन समभ्यस्तेन व्याकरणकान्तारप्रवेशभीरूणां बालकानां व्याकरणे प्रवेशः सुखेन भवेत्। सूत्राणि साङ्गानि प्रकाश्य तदन्वयप्रकारोऽपि समीचीनतया सूचितोऽस्ति।

श्रीनारायणशास्त्री खिस्ते

बिरलामहाविद्यालयाध्यक्षाणां महामहाध्यापकानां व्याकरणवागीशानां पं० श्रीसभापतिशर्मोपाध्यायानां सम्मतिः।

दर्शनकेशरिणा पं० श्रीगोपालशास्त्रिणा विरचितम्पाणिनीयप्रबोधं विलोक्य परमं प्रमोदमावहामि। व्याकरणशास्त्रं सम्प्रति दुरूहतामुपगतमिति प्रसृतम्प्रवादमपाकृत्य सरलं लघु सुबोधमिदं ग्रन्थरत्नं प्रकाशयित्रे शास्त्रिवर्य्यायानेकशो धन्यवादाः। संस्कृतच्छात्रा ग्रन्थेनानेन प्राशु व्याकरणज्ञानं विधाय शास्त्रान्तरे प्रवेष्टुमर्हन्तीति मे दृढो विश्वासः। आशासे लोककल्याणकृतः शास्त्रिवर्य्यस्याय प्रयासः सर्वैर्विद्वद्भिः समादृतः शिक्षाधिकारिभिश्चावश्यं सफलितः स्यादिति शम्।

हिन्दुविश्वविद्यालयीयप्राच्यविद्याविभागाध्यक्षाणां व्याकरणाचार्य्याणां महामहाध्यापकानां पं० श्रीकालीप्रसादशास्त्रिणां सम्मतिः।

दर्शनकेशरिभिः पं० श्रीगोपालशास्त्रिभिर्विरचितः "पाणिनीयप्रबोधः" कतिपयदिनावधि स्वपार्श्वे संस्थाप्य कियत्सु भागेषु मया स्वमनोयोगेनावलोकितः। कारकप्रकरणे तु कियत्स्थलं मया सन्निवेशितमपि।

पाणिनिमहर्षिप्रतिपादिता संक्षिप्तसरणिः पुनरपि जगति प्रसरेदिति धिया पुस्तकं सुविवेकपूर्वकं सपरिश्रमं च लिखितं दृश्यते । पुस्तकेऽस्मिन् बालानां कृते प्रयोगसाधनप्रकारः ग्रन्थकर्तुरभिप्रेतः प्रशस्यः । साम्प्रतिकाः शिक्षाधिकारिणो ग्रन्थमिमं संस्कृतपाठ्यपद्धतौ निवेशयेयुश्चेन्महानुपकारः स्यादन्तेवासिनामिति विनिवेद्य विरमामि विस्तरात् ।

श्रीकालीप्रसादमिश्रः ।

काशिकराजकीय-संस्कृतमहाविद्यालयीय-पुराणेतिहासप्रधानाध्यापकानां व्याकरणाचार्य्य-मीमांसातीर्थ-वेदान्त केशरिणां श्रीमतामनन्तशास्त्रिफड्के-महोदयानां सम्मतिः ।

श्रीमद्भिः काशीवास्तव्यैर्दर्शनकेसरिभिः श्रीगोपालशास्त्रिमहोदयैर्विरचितं 'पाणिनीयप्रबोध' – नामकं पुस्तकमामूलमान्तं चावलोक्य परमं सन्तोषं समन्वभवम् । अत्र सर्वत्र लघुकौमुद्यादिवन्न केवलं प्राचीनैव रीतिरनुसृता किन्तु क्वचित्क्वचिच्छात्राणां सुखेनैव बोधो भवत्विती च्छया नूतनाऽपि । यथा लिङ्गप्रकरणान्ते सर्वनामप्रकरणं तथैवाग्रेऽपि । संस्कृतभाषाप्रचारसमयेऽधुनाऽस्य ग्रन्थस्य परमोपादेयतास्तीति निश्चप्रचम् । अस्य ग्रन्थस्य पठनपाठनेन सरलरीत्याऽऽपामरं संस्कृतभाषाप्रचारो भवेदिति दृढं निश्चिनोमीति ।

श्रीमदनन्तशास्त्री फड्के

पण्डित दयाराम खटाऊ गङ्गाधर शर्मणाम् कच्छप्रान्तीय-नक्षत्राणादेशलपुरस्थ काशीपण्डितसभाशाखाध्यक्षाणां महोपाध्यायवेदान्त-वाचस्पति-सनातनधर्मभूषणादिविविधोपाधिसम्वलितानां सम्मतिः ।

श्रीमद्दर्शनशास्त्रिभिर्विरचितो लोकोपकारव्रतै—
रष्टाध्याय्यनुसारिशिक्षणधिया योऽयं प्रबोधोऽधुना ।
श्रुत्वा व्याकरणं ह्यतीव गहनं नाध्येतुमिच्छन्ति ये ।
तेषाञ्चापि रुचिस्तदध्ययनतो मन्ये समुद्योतिता ॥ १ ॥
महामहापदं येनाध्यापकेषु धृतं पुनः ।
'केशरी' दर्शनस्येति पदव्याऽलङ्कृतोऽपि यः ॥ २ ॥

सर्वत्र विद्यया ख्यातो नेतृवृन्देषु विश्रुतः।
'गोपालशास्त्रिवर्य्यों' यो देशसेवापरो महान् ॥ ३ ॥
यस्य व्याकरणे शास्त्रे साहित्ये चापि निर्मला।
प्रवृत्तिर्धर्मशास्त्रेषु न्यायमीमांसयोस्तथा ॥ ४ ॥
पाणिनीयप्रबोधोऽयं तेनैव रचितो लघु—
च्छात्रोपकारको भूयान्निरस्यन् व्याकृतेर्भयम् ॥ ५ ॥

श्री दयाराम शर्मा

हिन्दुविश्वविद्यालयीयराष्ट्रभाषाविभागप्राध्यापकानां व्याकरणाचार्य्याणां श्रीमतां पं० करुणापतिशास्त्रि एम्—ए महोदयानां सम्मतिः।

तत्रभवतां श्रीमतां दर्शनकेसरिमहोदयानां सुरभारतीसमाराधने समर्पितसर्वस्वानां 'पाणिनीयप्रबोधं' दृष्ट्वा परं परितोषं लभामहे।

जगद्गुरोर्भारतवर्षस्य सकला संस्कृतिमर्यादापरम्परा संस्कृतायामेव भाषायां सुगोपिता वर्त्तते। अधुना समधिगतायां स्वतन्त्रतायां प्रवतमायाः संस्कृतविद्यायाः प्रचारः परमावश्यक इति सर्वे एव स्वीकुर्वन्ति। परन्तु पाणिनीयसंस्कृतव्याकरणज्ञानस्य कष्टसाध्यतया व्याघ्रमुखं संस्कृतव्याकरणवृषभं दूरत एव दृष्ट्वाऽधुनिका अल्पमतयः संस्कृतज्ञानाभिलाषुकाः पलायन्ते।

अधुना संस्कृतदुर्गं प्रवेष्टुमुत्सुकेभ्यश्छात्रेभ्यः सरलतया प्रवेशाय यदेतत् द्वारभूतम् पाणिनीयप्रबोधग्रन्थरत्नं श्रीमन्तो दर्शनकेसरिमहोदया विनिर्मितवन्तस्तदर्थं ते सर्वेषां संस्कृतविद्याप्रचारसमुत्सुकानां धन्यवादार्हाः। आशास्यते च भगवतो विश्वनाथस्य करुणाकटाक्षकलया एतस्य ग्रन्थस्य प्रचारः प्रसारश्च सर्वत्र स्यादिति।

२००७ विक्रमाब्दीये भैरवाष्टम्याम्।

विदुषां वशंवदः
त्रिपाठि करुणापतिः।

# पाठशालीयाध्यापकेष्वन्यतमस्य सम्मतिः



संस्कृतभाषाप्रचारमात्रैकव्रतेषु देशसेवारतेषु विद्वद्वरण्येषु श्रीगोपाल-शास्त्रिदर्शनकेशरिमहोदयेषु नतिततयो विलसन्तुतराम्—

धन्येयमद्य धरणी महिता स्वतन्त्रा,
यस्यां जनिस्तव विभो ! सुरगीःसमृद्धये ।
नोचेत्प्रसिद्धमुनिनिर्मितपद्धतिः साऽ-
ष्टाध्यायिका कथमहो द्रुतमाविरासीत् ॥

बुधवर !

आपत्पयोधिमें निमग्न छात्रों के आप समुद्धारक हैं। संस्कृताध्यायी छात्रों की दशा सर्वथा शोचनीय हो गयी है। 'लघुकौमुदी' की कठिनता समीप आने नहीं देती। 'पाणिनीयप्रबोध' की रचना कर श्रीमान्ने छात्रों का ही उपकार नहीं अपितु सुरगवी की महिमा को चिरस्थायी कर दिया। विश्ववन्द्य 'बापू' की भाँति संस्कृतभाषा के उत्थानके लिये आपकी कीर्ति अमर रहेगी। संस्कृत समाज में आपका वही स्थान होगा जो आज उनका कांग्रेस में है। जिस लोक कल्याण की पवित्र भावना से आपने यह प्रयास किया है उसकी पूर्ति ईश्वर करेगा।

सम्प्रति मेरे विद्यालय में आधे से अधिक छात्र द्विजेतर हैं। यों ही मैं सुरभारतीकी उन्नति के लिये अहर्निश प्रयास कर रहा हूं। पाणिनीयप्रबोध को देखते ही मैंने अपने छात्रों को उसके अद्भुत गुणों को समझाकर केवल उसी के अध्ययन में लगा दिया है। यहां कोई भी 'लघुकौमुदी' छूता तक नहीं है।

आप विश्वास रखें कि, आज स्वतन्त्र भारत में अपने आप लोग अपने स्वार्थवश 'पाणिनीयप्रबोध' को अपनावेंगे। मैं सब स्थानों में प्रचार कर रहा हूं और करता रहूंगा। ऐसी ही मैंने प्रतिज्ञा कर ली है। जहां आपने इतने त्याग तथा कारावास की तपस्या द्वारा यह पद्धति निकाली है। वहां हम लोग इतना भी न कर सकें तो हमारी संस्कृतज्ञता ही व्यर्थ है।

आपके संस्कृत पथ का पथिक—

विष्णुपद पाण्डेय, प्र० अ० सं० का० हरदही
पो० हरिहरपुर, जि० गोरखपुर

ॐ

# पाणिनीयप्रबोधे

## मङ्गलाचरणम्



वाग्देवीं प्रणिपत्यादौ पाणिन्यादीन् मुनींस्तथा ।
पाणिनीयप्रबोधोऽयं बालबोधाय तन्यते ॥
येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥
येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः ।
तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः ॥
वाक्यकारं वररुचिं भाष्यकारं पतञ्जलिम् ।
पाणिनिं सूत्रकारञ्च प्रणतोऽस्मि मुनित्रयम् ॥

## अथ शब्दानुशासनम्

१ अइउण् २ ऋऌक् ३ एओङ् ४ ऐऔच् ५ हयवरट् ६ लण् ७ ञमङणनम् ८ झभञ् ९ घढधष् १० जबगडदश् ११ खफछठथचटतव् १२ कपय् १३ शषसर् १४ हल् ।

## संज्ञाप्रकरणम् ।

इति माहेश्वराणि* चतुर्दश सूत्राणि अणादिसंज्ञार्थानि । एषु णादयः अणाद्यर्थाः । हकारादिषु अकार उच्चारणार्थः । तथाहि "अण्" इत्युक्ते–

† [३]हलन्त्यम्[२] १।३।३। ([१]उपदेशे [४]इत्)। इति सूत्रेण णकारस्येत्संज्ञायां कृतायाम् ।

[४]आदिरन्त्येन[१] [३]सहेता[२] १।१।७१ (मध्यस्य[५] स्वस्य[६] च बोधकः[७]) इत्यनेन सूत्रेण अन्त्येन इता ण् कारेण सह उक्तः आदिः अकारः 'अ इ उ' इति वर्णत्रयस्य बोधको भवति । इत्येवम् 'अण्' प्रत्याहारसिद्धिः । एवम् 'अक्' इत्युक्त्या पूर्ववत् ककारस्येत्संज्ञादिकार्ये जाते अक्

* नृत्यावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नव पञ्च वारम् ।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥

† स्वरहीनं व्यञ्जनं हल् इति प्राचीनानां प्रवादः । अथवा हल् च ल् च तयोः समाहारः हल् इति विग्रहे द्वन्द्वसमासे 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' इति वार्तिकस्यानित्यत्वात् द्वितीयलकारस्य संयोगान्तलोपे 'हल्' इति रूपसिद्धिः । तेन अन्त्यं ल् इत् भवतीत्येकोऽर्थः, अन्त्यं हल् इत् भवतीति द्वितीयोऽर्थः । ततश्च प्रथमार्थेन अन्तिमस्य 'हल्' सूत्रस्थलकारस्येत्संज्ञायाम् 'आदिरन्त्येन सहेता' इति सूत्रबलात् हल् प्रत्याहारः सिध्यति । द्वितीयार्थेन सूत्रान्तिमानां हल्प्रत्याहारस्थवर्णानां इत्संज्ञायाम् 'आदिरन्त्येन सहेता' इति सूत्रबलात् अण् अक् अच् इत्यादिप्रत्याहारसिद्धिः । इत्येवमन्त्यपदमात्रावृत्त्यैव निर्वाहात् सूत्रावृत्तिर्न कार्या, अन्योन्याश्रयादिदोषवारणायेति विद्वद्भिर्विभावनीयम् ।

प्रत्याहारसिद्धौ अ इ उ ऋ ऌ इति वर्णपञ्चकस्य ज्ञानं भवति। एवम् अच् हल् अल् इत्यादयः प्रत्याहारा ज्ञेयाः।

[१]ऊकालो[२]ऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः[३]। १।२।२७ (उश्च-ऊश्च-ऊ३श्च वः, वां काल इव कालो यस्य स ऊकालः) इत्येवम् अकारादयः स्वरास्त्रिधा भवन्ति। तत्र ऌकारो द्विधा तस्य दीर्घाभावात्। एचोऽपि तथा, तेषां ह्रस्वाभावात्। सोऽच् प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा।

[१]उच्चैरुदात्तः[२]। १।२।२९। [१]नीचैरनुदात्तः[२]। १।२।३०। [१]समाहारः [२]स्वरितः। १।२।३१। इत्येवमकारादयो नवधा भवन्ति। तत्र ऌकारः षोढा। एचोऽपि तथैव। सोऽच् नवविधोऽपि प्रत्येकम् अनुनासिकनिरनुनासिकभेदेन द्विधा।

[१]मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः[३]। १।१।८। ([२]वर्णः) अँ-ङ-ण-न-ञ-म इत्याद्युदाहरणम्। तदित्थम्—अकारादयः प्रत्येकमष्टादशभेदा भवन्ति। ऌकारो द्वादशधा। एचोऽपि प्रत्येकं द्वादशधा। ततोऽष्टादशानामपि अकाराणाम्—

तुल्यास्यप्रयत्नं[१] [३]सवर्णम्। १।१।८। (वर्णम्[२]) [प्रयत्नश्च आभ्यन्तरो गृह्यते।] इत्यनेन कण्ठस्थानेन विवृतप्रयत्नेन च स्थान-प्रयत्नसाम्यात् सवर्णसंज्ञा भवति। (ऋऌवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्) इति वार्तिकबलात्स्थानभेदेऽपि ऋकारऌकारयोः सवर्णसंज्ञया प्रत्येकं त्रिंशद्भेदा भवन्ति। अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। इचुयशानां तालु। ऋटुरषाणां मूर्धा। उपूपध्मानीयानामोष्ठौ। ऌतुलसानां दन्ताः। ञमङणनानां नासिका च। एदैतोः कण्ठतालु। ओदौतोः कण्ठोष्ठम्। वकारस्य दन्तोष्ठम्। जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्। नासिकाऽनुस्वारस्य। प्रयत्नो

द्विधा-आभ्यन्तरो बाह्यश्च । आभ्यन्तरः पञ्चधा—स्पृष्टः, ईषत्स्पृष्टः, विवृतः, ईषद्विवृतः संवृत इति । कादिमान्तानां ( स्पर्शानाम् ) स्पृष्टः । अन्तःस्थानां ( यणाम् ) ईषत्स्पृष्टः । विवृतोऽचां ( स्वराणाम् ), ईषद्विवृतमूष्मणां ( शलाम् ), ह्रस्वस्याकारस्य संवृतः । प्रक्रियादशायां तु विवृत एव । इति आभ्यन्तरः प्रयत्नः । बाह्यप्रयत्न एकादशधा—विवारः संवारः श्वासो नादो घोषः अघोषः अल्पप्राणः महाप्राणः उदात्तः अनुदात्तः स्वरितश्चेति । बाह्यप्रयत्नांश्चान्तरतम्यपरीक्षायाम् उपयुक्ता भवन्ति । खरो विवाराः श्वासा अघोषाः । हशोऽचश्च संवारा नादा घोषाः । वर्गस्य प्रथमतृतीयपञ्चमवर्णा ( चयः जशः ञमः ) यणोऽचश्चेति मिलित्वाऽष्टात्रिंशदक्षराणि अल्पप्राणाः । वर्गस्य द्वितीयचतुर्थवर्णौ शलश्च ( खछठथफ तथा घझढधभ एवं शषसहेति चत्वारि शलप्रत्याहाराक्षराणि ) इति मिलित्वा चतुर्दशाक्षराणि महाप्राणाः । कादयो मावसानाः स्पर्शाः । यण् अन्तस्थः, शल् उष्मा । कखयोः पूर्वं विद्यमानोऽर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः । पफयोः पूर्वं विद्यमानोऽर्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः । अचः परौ अनुस्वारविसर्गौ । स्वरोपरि एकबिन्दुरनुस्वारः । स्वरदक्षिणपार्श्वे बिन्दुद्वयं विसर्गः ।

* [२]अणुदित्सवर्णस्य[३] चाप्रत्ययः[१] । १।१।६७ ( ग्राहकः[४]) ( कु-चु-टु-तु-पु इति एते उदितः ) तदेवम्–'अ'इत्यष्टादशानां सवर्णानां ग्राहकः । तथेकारोकारौ । ऋकारस्त्रिंशतः । एवं ऌकारोऽपि । एचो

* अत्र परणकारेण 'अण्' प्रत्याहारो ज्ञेयः ।

द्वादशानाम् । अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा । अतस्ते प्रत्येकं द्वयोर्द्वयोर्ग्राहकाः ।

[1]तपरस्तत्कालस्य[2] ।१।२।७०। ( ग्राहकः[3] )

सुप्तिङन्तम् पदम् । १।४।१४। रामः । भवति ।

[3]विभक्तिश्च । १।४।१०४। ( [1]सुपः तिङः[2] ) प्रथमैकवचनात् सोः सप्तमीबहुवचनस्य सुपः पकारावधि 'सुप्'प्रत्याहारो भवति । तद्यथा—

| एकवचनम् | द्विवचनम् | बहुवचनम् | विभक्तिः |
|---|---|---|---|
| सु | औ | जस् | प्रथमा |
| अम् | औट् | शस् | द्वितीया |
| टा | भ्याम् | भिस् | तृतीया |
| ङे | भ्याम् | भ्यस् | चतुर्थी |
| ङसि | भ्याम् | भ्यस् | पंचमी |
| ङस् | ओस् | आम् | षष्ठी |
| ङि | ओस् | सुप् | सप्तमी |

सम्बोधनं प्रथमावज्ज्ञेयम् । प्रथमपुरुषैकवचनस्य तिपस्तिकारात् उत्तमपुरुषबहुवचनस्य महिङो ङकारावधि तिङ् प्रत्याहारो भवति । तद्यथा—

## परस्मैपदिनः प्रत्ययाः

| एकवचनम् | द्विवचनम् | बहुवचनम् | पुरुषाः |
|---|---|---|---|
| तिप् | तस् | झि | प्रथमपुरुषः |
| सिप् | थस् | थ | मध्यमपुरुषः |
| मिप् | वस् | मस् | उत्तमपुरुषः |

## आत्मनेपदिनः प्रत्ययाः

| एकवचनम् | द्विवचनम् | बहुवचनम् | पुरुषाः |
|---|---|---|---|
| त | आताम् | झ | प्रथमपुरुषः |
| थास् | आथाम् | ध्वम् | मध्यमपुरुषः |
| इड् | वहि | महिङ् | उत्तमपुरुषः |

❀ [1]येन [2]विधिस्तदन्तस्य[3] १।१।७२ ( सः[4] विशेषणं तदन्तस्य

---

❀ इह 'येन' इत्यत्र करणे तृतीया, करणं च अप्रधानं भवति। अप्रधानता च विशेष्यविशेषणभावमादाय विशेषणे एव भवति। अतश्च विधीयमाने कार्य्ये विशेषणे अन्तशब्दो नियोज्यः। यथा ईदूदेद्द्विवचनम् प्रगृह्यम् इति सूत्रे ईदन्तम् ऊदन्तम् एदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यम् भवतीत्यर्थो लभ्यते।

संज्ञेत्यर्थः । ) इति सूत्रबलादेव विशेषणे 'अन्त'-शब्दं निवेश्य सूत्राणां वृत्तिर्विधेया । इत्येवं यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे इति नियमात् सप्तम्यन्ते विशेषणे आदि शब्दो नियोज्यते ।

॥ इति संज्ञाप्रकरणम् ॥

---

## अथ अच्–सन्धिः ( स्वर–सन्धिः )

वेद+अध्ययनम् इति स्थिते [१]अकः [२]सवर्णे [६]दीर्घः ६।१।१०१ ( [३]अचि [५]एकः [४]पूर्वपरयोः संहितायाम्[७] ) इति दीर्घैकादेशे = वेदाध्ययनम् । एवं स्वराज्यान्दोलनम् । विद्याध्ययनम् । कारागारम् । मुनीन्द्रः । कपीशः । गौरीन्दुः । गौरीशः । साधूत्सवः । बाहूर्ध्वम् । चमूल्लासः । चमूर्मिः । पितॄणम् इत्यादि । राम+इच्छा इति स्थिते—

[१]अदेङ् गुणः[२] १।१।२ इति अदेङोः गुणसंज्ञायाम् ।

[१]आद् गुणः[५] ६।१ ८७([२]अचि [४]एकः पूर्वपरयोः[३] [६]संहितायाम्) इति गुणैकादेशे कर्तव्ये स्थानसाम्यादेकारैकादेशे । रामेच्छा । एवम्— देवेश । महेन्द्रः । रमेशः । देशोद्धारः । गृहोर्ध्वम् । महोत्सवः । गङ्गोर्ध्वगा । देव+ऋणमिति स्थिते आद् गुणः इति गुणे कर्तव्ये स्थानसाम्यादकारैकादेशे—

[१]उरण्[२] [३]रपरः १।१।५१ इति रपरे । देव् अर्णम् इति जाते हलो वकारस्य परेणाक्षरेण योगे रेफस्य चोर्ध्वगतौ देवर्णम् । एवम्— महर्षिः । तवल्कारः । खट्वल्कार इत्यादि । एक+एकम् = इत्यत्र—

[२]वृद्धिरादैच्[१] १।१।१ इति आदैचोः वृद्धिसंज्ञायाम् [५]वृद्धिरेचि[२] ६।१।८८ ([१]आत् एकः[४] पूर्वपरयोः[३] संहितायाम्[६]) इति वृद्धयैकादेशे कर्त्तव्ये स्थानसाम्यादैकारादेशे। एकैकम्। एवम्-एकैला सूपौदनम्। गङ्गौघः। जनैक्यम्। महैश्वर्यम्। ममौत्सुक्यम्। महौद्धत्यम् इत्यादि। प्र+ऋच्छति इति स्थितौ [२]उपसर्गादृति[३]धातौ[४] ६।१।९१ ([१]आत एकः[६] पूर्वपरयोः[५] वृद्धिः[७]) इति अकार ऋकारयोः उभयोः स्थाने आवृद्धौ उरण् रपर इति रपरे प्र् आर् च्छति इति जाते उपसर्गस्य स्वरसंयोगे रेफस्य चोर्ध्वगतौ प्रार्च्छति। (आद्गुणस्यापनोदिकेयं वृद्धिः) दधि+अत्र इति स्थिते—

[२]इको [३]यणचि[१] ६।१।७७ (संहितायाम्[४]) इति यणि कर्तव्ये स्थानसाम्यात् इकारस्य यकारे दध्यत्र। एवम् दध्यानय। अभ्युदयः। प्रत्यूहः। मुन्यृषभः। प्रत्येकम् दध्योदनम्। अत्यैश्वर्यम्। पत्यौदार्यम्। सुध्यङ्गना। सेनान्यागमनम् सुध्युपास्यः। नद्यूर्मिः। अश्विन्यृक्षम्। पुङ्क्ष्येला। कोशातक्योदनम्। लक्ष्म्यैश्वर्यम्। सरस्वत्यौत्सुक्यम्। नन्वथ। स्वागतम्। मध्विदम्। साध्वीहितम्। मध्वृते। मध्वेतत्। पचत्वोदनम्। साध्वैश्वर्यम्। ददात्वौषधम्। सरय्वम्बु। वध्वागमनम्। वध्विच्छा। चम्वीशः। वध्वृणम्। चम्वेनः। चम्वोघः। वध्वैश्वर्यम्। वध्वौदार्यम्। धात्रंशः। पित्रादेशः। मात्रिच्छा। भ्रात्रीहितम्। पित्रुपदेशः। दात्रूहः स्वस्रेकता। यात्रोघः। धात्रैश्वर्यम्। पित्रौदार्यम्। लकारौ। लाकृतिः। लिति। लीशः। लुपदेशः इत्यादि। ने+अति इति स्थिते—

[१]एचोऽयवायावः[३] ६।१।७८ (अचि[२] संहितायाम्[४])। इति एकारस्य अयादेशे। नयति। एवं-भवति। नायकः। पावकः। हरे+इह

इति स्थिते अयादेशे हरय्+इह इति जाते—

[4]लोपः [6]शाकल्यस्य ८।३।१९ (अवर्णपूर्वयोः[1] [2]पदान्तयोर्य्वोः[3] अशि[5] [7]मते ) इति यलोपे हर इह इति सिद्धे प्राप्तो गुणः—

[1]पूर्वत्रासिद्धम्[2] ८।२।१ ( अधिकारोऽप्ययम् ) तेन पूर्वत्र = पूर्वसूत्रेषु अष्टमाध्यायप्रथमपादान्तेषु अवशिष्टम् पादत्रयम् असिद्धम् । अधिकारपक्षे अग्रेऽपि पूर्वपूर्वसूत्रेषु परं परं सूत्रमसिद्धं भवतीति सूत्रार्थः । इति यलोपासिद्ध्या निवर्तते । पक्षे हरयिह । एवम् विष्ण इह विष्णविह । त आगताः, तयागताः । भान आयाहि, भानवायाहि, तस्मा अर्थः, तस्मायर्थः । रामा इह, रामाविह । हरे+अव इत्यत्र प्राप्तमयादेशमपोद्य—

[1]एङः [2]पदान्तादति[3] । ६।१।११० । ( पूर्वरूपम्[4] ) इतिपूर्वरूपे हरेऽव । एवम् बटोऽपसर्प । हरी+एतौ इत्यत्र प्राप्तं यणं सन्निरुध्य—

[2]ईदूदेद् द्विवचनं[1] प्रगृह्यम्[3] । १।१।११ इत्यनेन हरी इत्यस्य प्रगृह्यसंज्ञायाम्—

प्लुतप्रगृह्या[1] अचि[2] नित्यम्[3] ६।१।१२५ ( प्रकृतिभावः[4] ) इति प्रकृतिभावे। हरी एतौ। एवम् भानू उदितौ। माले एते।

## तन्निष्कर्षो यथाः—

१—अकि समानस्वरयोर्दीर्घो जायते। २—अवर्णादिकि परे यथास्थानं गुणैकादेशो भवति। ३—अवर्णादेचि परे वृद्ध्येकादेशः कल्प्यते । अकारान्तोपसर्गात्परस्य ऋकारादेर्धातोः, ऋकारेण सह योगे गुणमपोद्य वृद्धिरेव जायते । ४—इकोऽसवर्णेऽचि परे यथास्थानं यण् निष्पद्यते । ५—एचः क्रमाद् अय्—अव्—आय्—आव् इति सम्पद्यतेऽचि परे । ६—पदान्तादेङः परस्य ह्रस्वाकारस्य पूर्वरूपमेव

भवति। ७—द्विवचनानामीदूदेदन्तानां प्रकृतिभावेन दीर्घयणाद्यादेश-पूर्वरूपाणि नैव भवन्ति। इत्यच्सन्धिःप्रकरणम्।

## अथ हल्-सन्धिः

रामस् + शेते इत्यत्र स्तोः[१] श्चुना[२] श्चुः[३] ८।४।४० इति श्चुत्वेन सस्य शत्वे रामश्शेते। एवम् रामश्चलति। सच्चित्। जगच्छत्रम्। मरुज्झम्पः। राजञ्जय। याच्ञा। रामस् + षष्ठ इति स्थितौ—

[२]ष्टुना ष्टुः[३] ८।४।४१ ( [१]स्तोः ) इति ष्टुत्वेन सस्य षत्वे रामष्षष्ठः। एवम् रामष्टीकते। तट्टीका। उड्डीयते। रणड्ढक्का। लिखण्णकारम्। वाक् + ईश इति स्थिते—

[१]झलां [३]जशोऽन्ते[२] ।८।२।३९। इति जश्त्वेन कस्य गत्वे वागीशः। एवम् अजन्तः। तदिदम्। मधुलिडयम्। त्वग्लावण्यम्। अज्झल्। अड्भवति। तद्वद। ककुब्विमला। लिड्भ्याम्। ककुब्वियम्। वाग् + कृता इत्यत्र—

[२]खरि च ८।४।५५ ( [१]झलां [३]चरः ) इति गस्य कत्वे वाक्कृता। एवम् तत्तनोति। तत्सत्। प्राट्सरति। ककुप्प्रकाशते। वाक् + मात्रम् इत्यत्र—

यरो[१]ऽनुनासिकेऽ[२]नुनासिको[३] वा[४] ८।४।४५ इति ककारस्य अनुनासिके ङकारे वाङ्मात्रम्। एवम् तन्नित्यं। आणन्द्याः। आम्नदी। तत्+लय इत्यत्र—

[२]तोर्लि[३] ८।४।६० ( पदान्तस्य[१] परसवर्णः[४] ) इति तकारस्य परसवर्णतया लत्वे। तल्लयः। एवम् विद्वाँल्लिखति। अत्रानुनासिकस्य नस्यानुनासिक एव लकारः। वाक् + हरिः इत्यत्र—

[१]झयो[२]हो[३]ऽन्यतरस्याम्[४] ८।४।६२ ( पूर्वस्य सवर्णः[३] ) इति पूर्वसवर्णतया संवारनादघोषमहाप्राणप्रयत्नस्य हकारस्य घकारे, कस्य च जश्त्वेन गकारे वाग्घरिः । एवं अज्झीनम् । त्रिड्ढसति । तद्धविः । ककुब्भता । वाक् + शूरः इत्यत्र—

[१]शश्छो[३]ऽटि[४] ८।४।६३ ( झयः[१] ) इति शकारस्य छकारे । वाक्छूरः । एवम् अच्छल् । षट्छेरते । ककुप्छयनम् ।

[ छत्वममीति वाच्यम् । ] तच्छ्लोकेन । शिव+छाया इत्यत्र—

छे [२]च ६।१।७३ ( तुक्[२] ह्रस्वस्य[१] ) इति तुकि कर्तव्ये—

आद्यन्तौ[१] [२]टकितौ १।१।४६ इति कित्वात् अकारस्यान्ते तुकि कृते ककारस्य हलन्त्यम् इत्यनेन, उकारस्य—

[१]उपदेशेऽज[३]नुनासिक[२] इत्[४] १।३।२ इत्यनेन इत्संज्ञायाम् ।

तस्य[१] लोपः[२] १।३।९ ( इतः[२] ) इत्यनेन उभयोर्लोपे शिवत् छाया इति जाते तकारस्य जश्त्वेन दकारे तस्य श्चुत्वेन जकारे खरि चेति जकारस्य चकारे शिवच्छाया । एवम् संस्कृतच्छात्रः । इत्यादि । प्रत्यङ् + आत्मा इत्यवस्थायाम्—

*[२]ङमो [१]ह्रस्वादचि[४] [६]ङमुण्नित्यम्[५] ।८।३।३२। (अचः[२]) इति ङकारात्परस्य अचः आत्मेत्याकारस्य ङमुडागमे कर्तव्ये 'आद्यन्तौ टकितौ' इति टित्वाद् आकारात्पूर्वम् ङुटि, अनुबन्धलोपे प्रत्यङ्ङात्मा । एवम् सुगण्णिह । तस्मिन्नद्रौ इत्यादि । राजन् + तथा इति स्थितौ—

---

* टिप्पणी—पूर्वत्र पञ्चमी परत्र सप्तमीं षष्ठीं प्रकल्पयति इति नियमात् ङमः पञ्चमीतः परम् 'अचि' इति सप्तमीं षष्ठीं प्रकल्प्य अचः ङमुडागमो जायते ।

[१]नश्छ[४]व्यप्रशान्[५] ८।३।७। ([२]रुः अम्परे[३]) इति नस्य रुकारे कृते—

[१]अत्रानुनासिकः[४] [२]पूर्वस्य तु वा[५] ८।३।२। ( रोः[२] ) इति रोः पूर्ववर्तिनोऽकारस्यानुनासिकत्वे राजँरु + तथा इति जाते अनुबन्धलोपे—

[३]खरवसानयोर्विसर्जनीयः[२] ८।३।१५ ( [१]रः ) इति रेफस्य विसर्गे। राजँः तथेति जाते [१]विसर्जनीयस्य [२]सः ।८।३।३४। ( [३]खरि ) इति विसर्गस्य सकारे। राजँस्तथा। एवम् पतँस्थुत्कारः। हसँश्चलति। विद्वाँश्छात्रः। राजँष्टीकते। सँष्ठक्कुरः। हरिम् + हसति इत्यवस्थायाम्—

[१]मोऽनुस्वारः[२] ८।३।२३ ( हलि[३] ) इति मस्यानुस्वारे हरिं हसति। एवम् ग्रामं सरति। सुखदं शयनम्। यशान् + सि इत्यत्र—

[४]नश्चा[२]पदान्तस्य [१]झलि ८।३।२४ ( [३]मोऽनुस्वारः[५] ) इत्यनेन नस्यानुस्वारे यशांसि। एवम् आक्रम् + स्यते इत्यत्र मस्यानुस्वारे आक्रंस्यते। अं + कितः इत्यत्र—

अनुस्वारस्य[१] ययि[२] परसवर्णः[३] ८।४।५८। इति परसवर्णे ङकारे अङ्कितः। एवम् वाञ्छितः। कुण्ठितः। छन्दितः। गुम्फितः। त्वं + करोषि इत्यत्र—

वा[३] पदान्तस्य[१] ८।४।५९ ( [२]अनुस्वारस्य [४]परसवर्णः ययि[५] ) इति वैकल्पिके परसवर्णे ङकारे त्वङ्करोषि। त्वं करोषि। एवम् ग्रामञ्चल, ग्रामं चल। शीघ्रण्टीकते, शीघ्रं टीकते। स्तोकन्तनु, स्तोकं तनु। तक्रम्पिब, तक्रं पिब। सँय्यन्ता, संयन्ता। सँव्वत्सरः, संवत्सरः। यँल्लोकम्, यं लोकम्।

इति हल्सन्धिः।

तन्निष्कर्षो यथाः—

१—दन्त्याक्षराणि यथाक्रमं तालव्येनाक्षरेण सह तालव्यानि भवन्ति, मूर्द्धन्येन सह मूर्द्धन्यानि भवन्ति। २—झशि वर्गप्रथमाक्षरस्य स्ववर्गीय तृतीयमक्षरम् भवति। ३—खरि परे वर्गतृतीयाक्षरस्य स्ववर्गीयं प्रथमाक्षरं भवति। ४—अनुनासिके परे वर्गप्रथमाक्षरस्य स्ववर्गीयं पञ्चमाक्षरं तृतीयाक्षरं वा भवति। ५—तदनार्ता लकारे परे स्वतुल्यो लकारो ज्ञेयः ६—वर्गप्रथमाक्षरात् परो हकारस्तद्वर्गीयचतुर्थाक्षरत्वं भजते, प्रथमाक्षरञ्च तृतीयाक्षरं भूत्वा तिष्ठति। ७—वर्गप्रथमात् तृतीयाद्वाक्षरात् परः अम्परकः शकारः छकारो भवति तृतीयाक्षरञ्च प्रथमाक्षरं भूत्वा तिष्ठति। ८—पदान्ता ह्रस्वपूर्वा ङणनाः स्वरे परे द्विगुणितास्तिष्ठन्ति। ९—पदान्तो नकारस्तु अम्परकेषु त-थ च-छ-ट ठेषु षट्सु अक्षरेषु ( छवि ) तत्स्थानीय—स-श-ष-परकोऽनुस्वारो भूत्वा तिष्ठति। १०—झलक्षरेषु परेषु अपदान्तनकारमकारौ अनुस्वारीभूय तद्वर्गीयपञ्चमाक्षरतां व्रजतः। ११—पदान्तमकारस्तु वर्गाक्षरेषु परेषु य-व-लेषु च अनुस्वारो भूत्वा विकल्पेन परसवर्णतां गच्छति। १२—शषसहरेफेषु परेषु अपदान्तौ नकारमकारौ पदान्तश्च मकारोऽनुस्वारतामेव गच्छन्ति। १३—ह्रस्वादचः परः छकारः चकारपूर्वकस्तिष्ठति। इति।

## अथ विसर्ग-सन्धिः

रामस् + करोति इत्यत्र—

[२]ससजुषो रुः[३] ८।२।६६। ( पदान्ते[१] ) इति सस्य रुत्वे अनुबन्धलोपे रामर् करोति इति जाते खरवसानयोर्विसर्जनीय इति विसर्गे रामः करोति इति स्थिते—

कुप्वोः[२] ᳵक ᳶ[३]पौ च ८।३।३७ ( [१]विसर्जनीयस्य ) इति वैकल्पिके जिह्वामूलीये रामᳵकरोति। पक्षे रामः करोति। एवं हरिᳵखनति। हरिः खनति। मेघः पतति इत्यत्र वैकल्पिके उपध्मानीये। मेघᳶपतति। वृक्षः फलति, वृक्षᳶफलति। विष्णुः + त्राता इत्यत्र 'विसर्जनीयस्य' सः इति सकारे विष्णुस्त्राता। एवं रामः + चलतीत्यत्र विसर्गस्य सकारे श्चुत्वेन शकारे रामश्चलति। भानुः + टीकते इत्यत्र सत्वे ष्टुत्वेन षकारे भानुष्टीकते। रामः + सरति इत्यत्र—

[२]वा [१]शरि ८।३।३६ ( [२]विसर्जनीयः ) इति वैकल्पिके विसर्गे रामः सरति। पक्षे सकारे रामस्सरति। एवं रामः शेते पक्षे सत्वे श्चुत्वे रामश्शेते। रामः षष्ठः इत्यत्र पक्षे सत्वे ष्टुत्वे रामष्षष्ठः। इत्यादि। रामस् + अर्च्यः इत्यत्र—'स सजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे—

[२]अतो [३]रोरप्लु[१]तादप्लुते[५] ६।१।११३ ( [४]उः अति[६] ) इति रोः उकारे गुणे पूर्वरूपे रामोऽर्च्यः। एवम् गुणोऽनर्घ्यः। शिवोऽपीत्यादि। रामरु + हसति इत्यत्र—

[४]हशि च ६।१।११४ ( अप्लुतादतः[१] रोः[२] उः[३] ) इति उत्वे गुणे रामो हसति। एवम् शिवो याति। घटो भूतले। पटो मठे। मनर् + रथ इति स्थितौ "विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२" इति परत्वात् प्राप्तं रलोपं पूर्वत्रासिद्धमिति त्रिपादित्वादसिद्धीकृत्य हशिचेत्युत्वे गुणे च मनोरथः। मनोरमा। पयोधिः। देवारु + इह इति स्थितौ—

भो भगो अघो[१]अपूर्वस्य [३]योऽशि[४] ८।३।१७ ( रोः[२] ) इति रोर्यत्वे 'लोपः शाकल्यस्य' इति पाक्षिके यलोपे। देवा इह देवायिह। एवम् देवाय् + नम्या इत्यत्र—

[4]हलि सर्वेषाम्[5] ८।३।२२ ( [1]भोभगो अघो अपूर्वस्य यः[2] लोपः[3] । ) इति यलोपे देवा नम्याः । एवम् नरा यान्ति । बाला हसन्ति, इत्यादि । पुनर् + रमते इत्यत्र—

[1]रोरि[2] ८।३।१४ ( लोपः[3] ) इति रेफस्य लोपे—

ढ्रलोपे[1] पूर्वस्य[2] दीर्घो[4]ऽणः[3] ६।३।१११ इति पूर्वस्याकारस्य दीर्घे पुना रमते । एवम् हरी रम्यः । भानू रक्षति । हेपिता रक्ष । हे नारद । रेफभिन्ने अशि इचः परस्य रोः तथा रुभिन्नरेफस्य च कस्यापि सूत्रस्याप्रवृत्त्या परेणाक्षरेण योग एव भवति, रेफे परेतु रोरीति तल्लोपे पूर्वस्वरस्य दीर्घो जायते । सस् + करोति इत्यत्र ।

[3]एतत्तदोः [4]सुलोपोऽको[2]रनञ् समासे[1] हलि[5] ६।१।१३२ इति सुलोपे स करोति । एवम् स पठति । स चलति । स वदति । स गच्छति । एष सरति । एष वन्द्यः । एष शिवः । एष करोति । एष खनति । इत्यादि ।

## तन्निष्कर्षो यथा—

१—खरि विसर्ग एव तिष्ठति । तत्रैव तस्य कखयोः पफयोः पूर्वे विकल्पेन जिह्वामूलीयोपध्मानीयरूपौ अर्धविसर्गौ भवतः । २—दन्त्य-तालव्य-मूर्द्धन्येषु नवसु खरप्रत्याहाराक्षरेषु त एव वैकल्पिकाः त्रिविधाः सशषा भवन्ति । ( अशि उः यलोपः रेफश्चेति त्रिधा सन्धिर्भवति ) ३—तत्र ह्रस्वाकारात्परस्य रोः न तु रेफस्य ( स्वाभाविकस्य सम्बुद्धेश्च ) अति हशि च उः भवति । ततो गुणे कृते अतश्च पूर्वरूपे सति प्रयोगसिद्धिः । ४—ह्रस्वाकारात् परस्य रोः नतु रुभिन्नरेफस्य ह्रस्वाकारभिन्ने अचि तथा

आकारात् परस्य तु अशि यकारो जायते । तस्य च लोपे सन्धिकार्याभावः । ५—इचः परस्य रोः तथा अकारोपधस्यापि रुभिन्नरेफस्य, ऋदन्तशब्दानां सम्बुद्धिरेफस्य च अशि परे रेफ एव तिष्ठति । अस्यैव त्रिविधस्य रेफस्य रेफे परे लोपो जायते पूर्वस्य च दीर्घः । ६—स, एष इत्युभयोः पदयोः ह्रस्वाकारभिन्ने अलि निर्विसर्गमेव रूपं तिष्ठति । सर्वत्र सुलोप एव भवतीत्यर्थः । केवलमति उत्वादि कार्य्यं जायते । इति विसर्गसन्धिः ।

इति-सन्धिप्रकरणम् ।

## अथ पुँल्लिङ्गप्रकरणम्

पदं बीजं द्रुमो वाक्यं प्रमाणं फलमाप्यते—
यस्याः प्रसादात्तां नित्यां वाग्देवीं प्रणमाम्यहम् ॥
रामो हरिः करी भानुर्मरुत्कर्ता च चन्द्रमाः
विद्वाँश्च भगवानात्मा दशैते पुंसि नायकाः ।

अकारान्तः पुँल्लिङ्गो रामशब्दः, तस्य, अव्युत्पन्नपक्षे—

[३]अर्थवदधातु[१]रप्रत्ययः[२] प्रातिपदिकम्[४] १।२।४५ ( [५]शब्दस्वरूपम् ) इत्यनेन, व्युत्पन्नपक्षे तु [१]कृत्तद्धितसमासाश्च १।२।४६ ( [२]प्रातिपदिकम् ) इत्यनेन प्रातिपदिकसंज्ञायाम् ।

[३]स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् ४।१।२ ( [१]ङ्याप्प्रातिपदिकात् [४]प्रत्ययः [२]परश्च ) इत्यनेन स्वाद्युपस्थितौ एकत्वविवक्षायां द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने १।४।२२ इति सौ विभक्तौ राम + सु इति स्थिते "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" इत्युकारस्येत्संज्ञायाम् 'तस्य लोपः' इति लोपे च राम + स् इति जाते "ससजुषो रुः इति रुत्वे खरवसानयोरिति विसर्गे

'रामः' इति सिद्धम् । द्वित्वविवक्षायाम् रामश्च रामश्च रामौ, इति विग्रहे रामशब्दद्वयात् औ विभक्तौ समागतायाम्—

[1]सरूपाणाम् [2]एकशेष [3]एकविभक्तौ १।२।६४ इति एक 'राम'-शब्दशेषे अन्यस्य च 'राम' शब्दस्य लोपे राम + औ इति स्थिते प्राप्तं गुणमपोह्य वृद्धिः प्राप्ता ताञ्चापोह्य—

[1]प्रथमयोः पूर्वसवर्णः[4] ६।१।१०२ ([2]अचि पूर्वपरयोः[3] एकः[5] दीर्घः[6] ) इति प्राप्तस्य दीर्घस्य—

[2]ना[1]दिचि[3] ६।१।१०४ । ( दीर्घः[5] पूर्वसवर्णः[4] ) इति निषेधे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ रामौ । बहुत्वविवक्षायाम् रामश्च रामश्च रामश्च रामाः, इति विग्रहे रामशब्दत्रयात्—

बहुषु बहुवचनम् १।४।२१ इति जस् विभक्तौ समागतायाम्, एकशेषकार्ये राम + जस् इति स्थितौ चुटू[3] १।३।७ ( प्रत्य[1]यस्य [2]आदी [4]इतौ ) इति जस्य इत्संज्ञायां लोपे च राम + अस् इत्यवस्थायाम् पूर्वसवर्णदीर्घे रामास् इत्यत्रान्त्यसकारस्य इत्संज्ञायाम् प्राप्तायां—

विभक्तिश्च १।४।१०३ इति जसः विभक्तिसंज्ञायाम् ।

[2]न विभक्तौ[1] तुस्माः[3] १।३।४ ( इतः[4] ) इत्यनेन निषेधे रुत्वे विसर्गे च 'रामाः' इति सिद्धम् । राम + अम् इति स्थितौ—

[1]अमि [3]पूर्वः ६।१।१०७ । ([2]अकः [4]रूपम्) इति पूर्वरूपे रामम् । रामौ । राम + शस् इति स्थितौ—

[1]लशक्वतद्धिते[3] १।३।८ ( [2]इत् ) इति शस्य इत्संज्ञायाम् लोपे च राम + अस् इति जाते पूर्वसवर्णदीर्घे रामास् इति जाते—

[1]तस्माच्छ[3]सो नः[4] पुंसि ६।१।१०३ ( [2]पूर्वसवर्णदीर्घात् )

इति सस्य नत्वे रामान् । अत्र—

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ८।४।२ ( रषाभ्यां नो णः समानपदे ) इति प्राप्तं णत्वं—

[३]पदान्तस्य ८।४।३७ ([२]रषाभ्यां नो[४] णः[५] समानपदे[७] न[६] अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि[१] ) इति निषिध्यते । राम + टा इत्यत्र—

[१]यस्मा[२]त्प्रत्ययविधिस्तदादि[३] प्रत्यये[५]ऽङ्गम्[४] १।४।१३ इति 'राम' इत्यस्य अङ्गसंज्ञायाम्—

[३]टाङसिङसामिनात्स्याः[४] ७।१।१२ ( अतः[१]अङ्गात्[२] ) इति टाविभक्तेः इनादेशे राम + इन इत्यत्र गुणे रामेन इति जाते—

[२]अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ८।४।२ ([१]रषाभ्यां नो[३]णः [४]समान पदे[५] ) इति नस्य णत्वे रामेण । राम + भ्याम् इत्यत्र—

सुपि[५] च[६] ७।३।१०२ ( अङ्गस्य[२] [१]अतो दीर्घो[३] यञि[४] ) इति दीर्घे रामाभ्याम् । राम + भिस् इति स्थितौ—

अतो[१] भिस्[२] ऐस्[३] ७।१।९ इति भिस ऐसादेशे कर्तव्ये—

[१]अनेकाल् [२]शित्सर्वस्य[३] १।१।५५ इति सर्वस्यैव भिस ऐसादेशे वृद्धौ रुत्वे विसर्गे च रामैः । राम + ङे इत्यवस्थायाम्—

[३]ङेर्यः[४] ७।१।१३ ( [१]अतोऽङ्गात्[२] ) इति ङविभक्तेर्यादेशे [३]स्थानिवदादेशो[१]ऽनल्विधौ[२] १।१।५६ इति स्थानिवद्भावे सुपिचेति दीर्घे रामाय, रामाभ्याम्, राम + भ्यस् इत्यत्र—

[३]बहुवचने [४]झल्येत्[६] । ७।३।१०३ ( अतः[१] अङ्गस्य[२] सुपि[५] ) इति एत्वे रुत्वे विसर्गे च रामेभ्यः । राम + ङसि इति स्थितौ 'टाङसिङसाम्०, इति ङसेराति दीर्घे रामात् इत्यत्र जश्त्वेन दकारे—

[४]वावसाने[१] ८।४।५६ ( [२]झलां चर:[३] ) इति चर्त्वेन वैकल्पिके तकारे रामात् रामाद्, रामाभ्याम्, रामेभ्यः । राम + ङस् इति स्थितौ टाङसिङसाम्० इति ङसः स्यादेशे रामस्य । राम + ओस् इत्यत्र—

[४]ओसि च । ७।३।१०४ ( अतः[१] अङ्ग[२]स्य एत्[३] सुपि[५] ) इति अकारस्य एकारे रामे + ओस् इति जाते अयादेशे रुत्वे विसर्गे च रामयोः । राम + आम् इत्यत्र—

[२]ह्रस्वनद्यापो नुट्[३] ७।१।५४ ( [२]आमः ) इति नुडागमे कर्तव्ये 'आद्यन्तौ टकितौ' इति टित्वादाम आदौ नुटि उकारटकारयोरित्संज्ञायां लोपे च राम + नाम् इति जाते—

नामि[४] ६।४।३ ( [१]अचः [२]अङ्गस्य [३]दीर्घः ) इति दीर्घे णत्वे रामाणाम् । राम + ङि इत्यत्र ङकारस्येत्संज्ञायां लोपे च गुणैकादेशे रामे रामयोः । राम + सु इति स्थिते एत्वे कृते—

आदेशप्रत्यययोः[३] ८।३।५९ ( [१]इण्कोः [२]अपदान्तयोः सः[४] मूर्धन्यः[५] । ) इति सकारस्य मूर्धन्यषकारे 'रामेषु' इति सिद्धम् । सम्बोधने हे राम + सु इति स्थिते—

[२]एकवचनं [३]सम्बुद्धिः २।३।४९ ( [१]प्रथमायाः ) इति सोः सम्बुद्धिसंज्ञायाम् [१]एङ् ह्रस्वात् [३]सम्बुद्धेः ६।१।६९ ( [२]अङ्गात्[४] हलः [५]लोपः ) इत्यनेन सुलोपे हे राम हे रामौ हे रामाः पूर्ववत् । एवम्—

घट, पट, कर, हस्त, चय, जय, लय, पाक, राग, पाद, मास, घास, वास, काल, रोग, भोग, लोक, दीर्घ, सूर्य, चन्द्र, नग, नाग, दन्त, घन, मेघ, केश, वृक्ष, कुम्भ, कीट, गुण, शूर, पुत्र, छात्र, यम, मन्त्र प्रश्न, यश, यत्न, देव, मेष, कुक्कुर, सिंह, व्याघ्र, गज, मूषक,

छाग, नर, वानर, बक, हंस, शकुन्तादयः सर्वेऽपि नरवन्नङ्वाच्प्रभृति-प्रत्ययान्ताः शब्दा ज्ञेयाः। आकारान्तशब्दे तु सर्वत्र सन्धिकार्यें रूप-सिद्धिः। तथाहि—हाहाः हाहौ। हाहाः। हाहाम्। हाहौ। हाहान्। हाहा, हाहै, हाहाः, । हाहौः। हाहाम्। हाहे। इत्यादि। अत्रापि आकारान्त-धातुशब्दानां भ-संज्ञायाम् रूपविशेषः। यथा गोपाशब्दात् शसि विभक्तौ समागतायाम् अनुबन्धलोपे गोपा + अस् इत्यत्र—

[२]यचि [४]भम् १।४।१८ (स्वादि[३]ष्वसर्वनामस्थाने[१]) इति भ-संज्ञायाम्।

[३]आतो धातोः[२] ६।४।१४० ([१]भसंज्ञस्य लोपः[४]) इति भ-संज्ञकस्य आकारस्य लोपे गोपः, गोपा, गोपे गोपः गोपोः गोपाम् गोपि। इत्यादि। एवं स्त्रीलिङ्गेऽपि। शङ्खध्मा कीलालपादयोऽप्येवमेव स्त्रीलिङ्ग-पुंलिङ्गयोरुभयोरपि सरूपा ज्ञेयाः। धातुशब्दाश्च—

क्विबन्ताश्च विडन्ताश्च विजन्ता येऽपि धातवः।
ते धातुत्वं न जहति शब्दत्वं प्राप्नुवन्ति च। इति

## इकारान्तः पुँल्लिङ्गो हरि शब्दः ( बन्दर, विष्णु )

हरिशब्दस्य कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायाम् सौ विसर्गे च हरिः। हरि + औ इत्यत्र पूर्वसवर्णदीर्घे हरी। हरि + अस् इत्यत्र पूर्वसवर्णदीर्घं बाधित्वा—

जसि[४] च ७।३।१०९ ([१]ह्रस्वस्य [३]गुणः [२]इकः) इत्यनेन गुणे अयादेशे हरयः। हरिम्। हरी। हरीन्। हरि + टा इत्यवस्थायाम्—

[२]शेषो[३]घ्यसखि[१] १।४।७ (ह्रस्व इकार उकारश्च शेषः) इति घि-संज्ञायाम्—

[2]आङो ना[3]ऽस्त्रियाम्[4] ७।३।१२० ( [1]घेः ) इति नादेशे णत्वे हरिणा । हरिभ्याम् । हरिभिः । हरि + ङे इत्यत्र—

[1]घेर्ङिति[3] ७।३।१११ ( [2]गुणः ) इति गुणे अयादेशे हरये । हरिभ्याम् । हरिभ्यः । हरे + अस् इत्यवस्थायाम्—

[2]ङसिङसोश्च ६।१।११० ( [1]एङः [3]पूर्वरूपमेकादेशः[4] ) इति पूर्वरूपे रुत्वे विसर्गे च हरेः । हरिभ्यां । हरिभ्यः । हरेः । हर्योः । हरीणाम् हरि + ङि इति स्थितौ —

[5]अच्च[4]घेः ७।३।११९ ( [2]ङेः [1]इदुद्भ्याम् [3]औत् ) इत्यनेन ङेरौति कृते इकारस्याकारादेशे च हर+औ इति जाते वृद्धौ हरौ, हर्योः, हरिषु । हे हरि + सु इत्यवस्थायाम्—

[1]ह्रस्वस्य [2]गुणः ७।३।१०८ ( [3]सम्बुद्धौ ) इति गुणे एङ्ह्रस्वादिति सुलोपे हे हरे । हे हरी । हे हरयः । एवं मुनि, कपि, कवि निधि विधि, यति, व्याधि, जलधि, रवि, वह्नि, रश्मि, नृपति, भूपति, वृहस्पति, शनि, दाशरथि द्रौणि, दाक्षि, पाणिनिप्रभृतयः संज्ञाविशेषणशब्दा ह्रस्वेकारान्ताः पुँल्लिङ्गा ज्ञेयाः । केवलपतिशब्दे तु टादौ विशेषः । पति + आ इत्यत्र—

पतिः[3] [1]समास [2]एव १।४।८ (घि[4]) इत्यनेन घित्वाभावेन नात्वाभावे यणि पत्या । पत्ये । पति + अस् इत्यत्र यणि पत्य्+अस् इति जाते—

[1]ख्यत्यात्परस्य[2] ६।१।११२ (ङसिङसोश्चात [3]उत्[4]) इति विभक्तेरकारस्योकारे पत्युस् इति जाते रुत्वे विसर्गे च पत्युः । पति+इ इति स्थिते—

[3]औत् ७।३।११८ ( [1]इदुद्भ्यां [2]ङेः )' इति विभक्तेरौकारे यणि पत्यौ इत्यादि । शेषं हरिवत् । सखिशब्दस्य तु असम्बुद्धिसर्वनामस्थाने विशेषः । सखि + सु इति स्थिते—

[2]अनङ्[4]सौ ७।१।९३ ( [1]सख्युः अस[3]म्बुद्धौ ) इति अनङि कर्तव्ये ङिच्च[1] १।१।३५ ( अन्त्यस्य[2] आदेशः[3] ) इति ङित्वादन्त्यस्य इकारस्य अनङादेशे सखन् + सु इति स्थिते—

[2]सुडनपुंसकस्य[1] १।१।४३ ( [3]सर्वनामस्थानम् ) इति सुटः सर्वनामस्थानसंज्ञायाम्, अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा १।१।६४ इति नकारात् पूर्ववर्तिनः अकारस्योपधासंज्ञायाम्—

[3]सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ[2] ६।४।७ ( [1]नोपधायां [4]दीर्घः ) इति नोपधादीर्घे सखान् + सु इति स्थिते—

[2]हल्ङ्याब्भ्यो [1]दीर्घात् [3]सुतिस्यपृक्तं [4]हल् ६।१।६८ ([5]लुप्यते) इति सुलोपे ।

[2]नलोपः [1]प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७। इति नलोपे सखा । सखि + औ इत्यत्र—

[1]सख्युरसम्बुद्धौ[2] ७।१।९२। ( [3]सर्वनामस्थाने [4]णित् ) इति णिद्वद् भावे [1]अचोञ्णिति[4] ७।२।११५। ( [3]वृद्धिः अङ्गस्य[2] ) इति इकारस्य वृद्धौ सखै + औ इति जाते आयादेशे सखायौ सखायः । सखायम् सखायौ सखीन् सख्या सख्ये सख्युः, सख्योः, सखीनां सख्यौ, हे सखे हे सखायौ हे सखायः । इत्यादि शेषं पतिवत् । ह्रस्वोकारान्ताः पुँल्लिङ्गाः—भानु, विष्णु, गुरु, साधु, राहु, बाहु, ऋतु, पृथु, केतु सेतु, हेतु, शिशु, विधु, शत्रु, प्रभु, जन्तु, अध्वर्यु, पशु, शम्भु-प्रभृतयः शब्दा हरिवत् ज्ञेयाः । परन्तु एषु गुण ओकारस्तस्य अवादेशश्चेति विशेषः । यथा-भानुः भानू भानवः । भानुम् भानू भानून् । भानुना भानुभ्याम् भानुभिः । भानवे भानुभ्याम् भानुभ्यः । भानोः भानुभ्याम् भानुभ्यः ।

भानोः भान्वोः भानूनाम्। भानौ भान्वोः भानुषु। हे भानो हे भानू हे भानवः। दीर्घैकारोकारान्तशब्देषु तु विभक्तियोगे सन्धिकार्यें रूपसिद्धिः। यथा पपीः पप्यौ पप्यः। यणं बाधित्वा पूर्वरूपे पपीम् पप्यौ पपीन्। पप्या पपीभ्याम् पपीभिः। पप्ये पपीभ्याम् पपीभ्यः। पप्यः पपीभ्याम् पपीभ्यः पप्यः पप्योः पप्याम्। पपी पप्योः पपीषु। हे पपीः हे पप्यौ हे पप्यः। एवं ययी वातप्रमीप्रभृतयो धातुभिन्ना ईप्रत्ययान्ता ईकारान्ता हूहूप्रभृतय ऊकारान्ताश्च शब्दा ज्ञेयाः।

### ऋकारान्तः पुँल्लिङ्गः कर्तृशब्दः ( करने वाला )

कर्तृशब्दात् सौ विभक्तौ—

[१]ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च ७।१।९४ ( [३]असम्बुद्धौ- [२]अनङ् सौ[४] ) इति ङित्वादन्त्यस्य ऋकारस्य अनङादेशे कर्तन् सु इति जाते प्रतिपदविधित्वात् 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति बाधित्वा।

[१]अप्तृन्तृच्स्वसृ नप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तृणाम् ६।४।११। ( [२]उपधादीर्घः सर्वनामस्थाने[४] चासम्बुद्धौ[३] ) इति उपधादीर्घे कर्तान् सु इत्यत्र सुलोपे नलोपे 'कर्ता' इति सिद्ध्यति। कर्तृ + औ इति स्थिते—

[१]ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः[४] ७।३।११०। ( [३]गुणः [२]अङ्गस्य ) इति ऋकारस्याकारे गुणे 'उरण्रपरः' इति रपरे कर्तर् + औ इत्यत्र 'अप्तृन०' इत्युपधादीर्घे कर्तारौ। कर्तारः। कर्तारम्। कर्तारौ। कर्तॄन्।

---

स्वसा = भगिनी। उद्गाता = सामवेदज्ञः। नप्ता = पौत्रः दौहित्रश्च, त्वष्टा = तक्षा। होता, पोता = ऋत्विक्। प्रशास्ता = शासकः, जामाता = पुत्रीपतिः, देवा = देवरः, सव्यष्टा = सारथिः।

र्याणि कर्त्रा। कर्तृभ्याम्। कर्तृभिः। कर्त्रे। कर्तृभ्याम्। कर्तृभ्यः। कर्तृ+ अस् इति स्थिते।

[१]ऋत उत्[४] ६।१।१११ ([२]ङसिङसोः [३]अति [५]एकादेशः) इति ऋकाराकारयोरुदेकादेशे कर्तव्ये 'उरण्रपरः' इति रपरतया उरि कृते कर्तुर्स् इति जाते—

[१]रात्सस्य[२] ८।२।२४। (लोपः[३]) इति सलोपे रेफस्य विसर्गे कर्तुः। कर्त्रोः। कर्तृ+नाम् इत्यत्र नामीति दीर्घे (ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्) इति वार्तिकेन नस्य णत्वे कृते कर्तॄणाम्। ऋतो ङि० इति गुणे कर्तरि। कर्त्रोः। कर्तृषु। हे कर्तः। हे कर्तारौ। हे कर्तारः। एवं धर्तृ, भर्तृ, हर्तृ, गन्तृ, दातृ, धातृ, पातृ, यातृ, नेतृ, क्रेतृ, गोप्तृ, चोरयितृ कथयितृप्रभृतय ऋकारान्ताः तृन् तृच् प्रत्ययान्ता विशेषणशब्दा ज्ञेयाः। शसि नत्वाभाववानेकः स्त्रीलिङ्गस्वसृशब्दोऽप्येवमेव ज्ञेयः। उणादिसिद्धेषु संज्ञाशब्देषु तृन् तृच् प्रत्ययान्तेषु तु उद्गातृशब्दविशिष्टाः सूत्रपठिता नप्त्रादयः सप्तैव ज्ञेयाः। सूत्रपठितेभ्योऽन्येषां भ्रातृ-जामातृ, पितृ, देवृ, नृ, सव्येष्ठृप्रभृति पुंल्लिङ्ग संज्ञाशब्दानाम्, ननान्दृ, दुहितृ, यातृ, मातृ, प्रभृतिस्त्रीलिङ्ग संज्ञाशब्दानां चोणादिनिष्पन्नानां* तृन् तृच्-प्रत्ययान्तानां संज्ञाशब्दानां रूपाणि तु दीर्घाभावाणि ज्ञेयानि। यथा भ्राता भ्रातरौ भ्रातरः भ्रातरं भ्रातरौ भ्रातॄन् इत्यादि। स्त्रीलिङ्गे तु शसि नत्वाभावो

*नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्, तथाहि उणादिनिष्पन्नानां तृन् तृच् प्रत्ययान्तानां संज्ञाशब्दानां चेद्दीर्घो भवति तर्हि नप्त्रादीनामेव तेनेह न भ्राता भ्रातरावित्यादि।

विशेषः । ननान्दा ननान्दरौ ननान्दरः ननान्दरं ननान्दरौ ननान्दॄः इत्यादि । नृशब्दस्य तु आमि नुटि नृ + नाम् इत्यत्र—

[2]नृ च[1] ६।४।६ ( [2]नामि [3]दीर्घो वा[4] ) इति वैकल्पिके दीर्घे णत्वे नॄणाम्, नृणाम् । हे नः हे नरौ इत्यादि ।

तकारान्तः पुल्लिङ्गः मरुद् ( वायु ) शब्दः

मरुत् + सु इत्यत्र विभक्तेर्लोपे जश्त्वे तस्य वैकल्पिके चर्त्वे मरुत् मरुद् । अन्यत्र विभक्तियोगे, हलादौ जश्त्वे मरुतौ मरुतः । मरुतम् मरुतौ मरुतः । मरुता मरुद्भ्याम् मरुद्भिः । मरुते मरुद्भ्याम् मरुद्भ्यः । मरुतः मरुद्भ्याम् मरुद्भ्यः । मरुतः मरुतोः मरुताम् मरुति मरुतोः मरुत्सु । हे मरुत् हे मरुद् हे मरुतौ हे मरुतः । इत्येवं भूभृत् भूमिभृत्, क्षितिभृत्, धनुर्भृत् शास्त्रकृत् राज्यकृत् बहुश्रुत् राज्यहृत् दण्डभृत् इत्याद्युभयलिङ्गाः, सरित्, समित् क्षुत् विद्युत् तडित् इत्यादयः केवलं स्त्रीलिङ्गाः तकारान्ताः शब्दा ज्ञेयाः । तत्र 'भगवत्' शब्दे पुँल्लिङ्गे विशेषः । भगवत् + सु इत्यत्र—

अत्वसन्तस्य[2] चाधातोः[1] ६।४।१४। ( [3]उपधादीर्घः [4]असम्बुद्धौ सौ[5] ) इति उपधादीर्घे भगवात् + सु इति स्थिते—

उगिदचां[2] सर्वनामस्था[4]नेऽधातोः[1] ७।१।७० । ( नुम्[3] ) इति नुमागमे कर्तव्ये—

मि[1]द[2]चोऽन्त्या[3]त्परः[4] १।१।४७। इति दीर्घाकारात् परे नुमि अनुबन्धलोपे भगवान्त् + सु इति स्थिते सुलोपे संयोगान्तलोपे तस्यासिद्धत्वान्नलोपाभावे भगवान् भगवन्तौ भगवन्तः । भगवन्तम् भगवन्तौ ।

अन्यत्सर्वं रूपं मरुच्छब्दवत् ज्ञेयम्। सम्बुद्धौ हे भगवन् हे भगवन्तौ। हे भगवन्तः। एवं डवतु प्रत्ययान्त–भवत्–मतुप्प्रत्ययान्त–धीमत्–गोमत् घनवत्–रश्मिवत्–जनवत्–बलवत् वतुप्प्रत्ययान्त तावत् यावत् कियत् इयत् प्रभृतयोऽत्वन्तशब्दा ज्ञेयाः। शत्रन्ते भवत् पठत् इत्यादिशब्दे तु अत्वन्ताभावात् दीर्घाभावे नुमि सुलोपे संयोगान्तलोपे भवन् भवन्तौ भवन्तः। इत्यादि रूपं ज्ञेयम्। तत्राऽपि अभ्यस्तसंज्ञकानां शब्दानां नुमागमाभावे केवलं मरुच्छब्दवदेव रूपम्। तथाहि ददत् + सु इत्यत्र उगिदचामिति नुमि प्राप्ते तस्य—

[१]उभे अभ्यस्तम्[२] ।६।१।५। इति ददत् शब्दस्य अभ्यस्तसंज्ञकत्वात्—

[४]नाभ्यस्ता[१]च्छतु[२]: ७।१।७८ ( [३]नुम् ) इति नुमो निषेधे सुलोपे ददत् ददतौ ददतः। इत्यादि सर्वं मरुद्वद्रूपम्। तकारान्तेऽपि महच्छब्दे सर्वथा भिन्नं रूपम्। तथाहि–महत्+सु इत्यत्र उगित्वान्नुमि अनुबन्धलोपे महन्त् + सु इति स्थिते—

**सान्तमहतः संयोगस्य** ६।४।१० ( नोपधाया दीर्घः असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने ) इति नोपधादीर्घे महान् त् + सु इति जाते सुलोपे संयोगान्तलोपे तदसिद्धत्वा नलोपाभावे महान्, महान्तौ, महान्तः, महान्तं, महान्तौ, संबुद्धौ हे महन् हे महान्तौ हे महान्तः शेषं मरुद्वत्। ❀

❀ तान्ताः पञ्चविधाः तत्र प्रथमस्तकारमात्रेणैव विभक्तियोगवान्, द्वितीयः सुटि नुम्भागपि वत्, मत्, यदित्यन्तशब्दस्वरूपवान् सौ दीर्घवान् भवति, तृतीयः सौ शत्रन्तत्वाद्दीर्घाभावेऽपि सुटि नुम्भाक्, चतुर्थः शत्रन्तोऽपि नुमरहितः केवलं विभक्तियोगभाक्, यद्यपि प्रथमभेदे

## नकारान्त इन्नन्तपुल्लिङ्गः करिन् ( गज ) शब्दः

करिन्+सु इत्यत्र 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति प्राप्तं नोपधादीर्घं बाधित्वा---

[१]इन्हन्पूषार्यम्णां शौ[२] ।६।४।१२। ( उपधा-दीर्घः[२] ) इति नियम-सूत्रान्निषेधे प्राप्ते ततश्च –

[३]सौ च ६।४।१३। ( [१]इन्नादीनामुपधादीर्घः[२] ) इति उपधादीर्घे सुलोपे नलोपे करी, करिनौ इत्यत्र 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति नस्य णत्वे करिणौ करिणः । करिणम् करिणौ करिणः । करिणा, करिन् + भ्यामित्यत्र---

[२]स्वादिष्वसर्वनामस्थाने[१] १।४।१७ ( [३]पदं ) इति पदसंज्ञायां नलोपः प्रातिपदिकान्तस्येति नलोपे करिभ्याम् करिभिः । करिणे, करिणः करिणोः करिणाम् । करिणि करिषु इत्यादि । सम्बुद्धौ प्राप्तस्य नलोपस्य—

[२]न ङिसम्बुद्ध्योः[१] ८।२।८। ( [२]नलोपः ) इति निषेधे हे करिन् हे करिणौ हे करिणः । एवं हस्तिन्-शशिन्-स्वामिन्-ग्राहिन् मन्त्रिन् ग्रहिन्-दण्डिन्-नखिन् धन्विन्-यशस्विन्-मेधाविन्-स्रग्विन्-मायाविन्-तरस्विन्-प्रभृतय इन्नन्ताः शब्दा ज्ञेयाः । इन्नन्तेऽपि पथिन् शब्दे विशेषः–पथिन्+सु इत्यत्र—

[१]पथिमथ्यृभुक्षामात्[२] ।७।१।८५। ( [३]सौ ) इति नकारस्य आकारे पथिआ+सु इति जाते—

---

मरुत्प्रभृतावन्तर्भवत्ययं तथापि शत्रन्ताशत्रन्तभेदेनानयोः पार्थक्यम् ।

पञ्चमः–सुटि नुम्दीर्घोभयभाक् ।

[2]इतो[3]ऽत्सर्वनामस्थाने[4] ७।१।८६ ([1]पथिमथ्यृभुक्षाम्) इति इकारस्याकारे पथआ+सु इति जाते—

[2]थोन्थः[2] ७।१।८७ (सर्वनामस्थाने[3]) इति थस्य न्थादेशे पन्थ+आसु इति स्थिते सवर्णदीर्घे रुत्वे विसर्गे पन्थाः। पथिन्+औ इत्यत्र इकारस्याकारे थकारस्य न्थादेशे पन्थन्+औ इति जाते नान्तोपधादीर्घे पन्थानौ पन्थानः पन्थानं पन्थानौ पथिन्+अस् इत्यत्र—

अचोन्त्यादि टि १।१।६४ इति इनः टि संज्ञायां—

[2]भस्य[3] टेर्लोपः[4] ७।१।८८ ([1]पथिमथ्यृभुक्षाम्) इति इनः टेर्लोपे पथ्+अस् इति जाते स्वरसंयोगे रुत्वे विसर्गे च। पथः पथा। नलोपे पथिभ्याम् पथिभिः हे पन्थाः इत्यादि, एवम् मथिन् ऋभुक्षिन् (इन्द्र) शब्दौ ज्ञेयौ। ऋभुक्षाः, ऋभुक्षाणावित्यादि।

### नकारान्तः पुँलिङ्ग आत्मन् (आत्मा) शब्दः।

आत्मन्+सु इत्यत्र 'सर्वनामस्थाने' इति दीर्घे सुलोपे नलोपे आत्मा आत्मानौ आत्मानः। आत्मानम् आत्मानौ आत्मन्+अस् इत्यत्र—

[2]अल्लोपोऽनः[2] ।६।४।१३४ ([1]भस्य) इति अल्लोपे प्राप्ते तस्य—

[5]न संयोगा[2]द्वमन्तात्[1] ६।४।१३७ (अल्लो[4]पोऽनः[3]) इति निषेधे आत्मनः आत्मना। नलोपे आत्मभ्याम् इत्यादि। अत्र 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति नलोपस्य असिद्धत्वात् आत्वमेस्त्वमैस्त्वञ्च न भवति। सम्बुद्धौ हे आत्मन् हे आत्मानौ हे आत्मानः। एवम् यज्वन् अध्वन् ब्रह्मन् अनर्वन् सुजन्मन् सुवर्त्मन् सुधर्मन् सुकर्मन् शर्मन् वर्मन् इत्यादयो नकारान्ताः शब्दा ज्ञेयाः। तत्राऽपि राजन् सुत्रामन् सुदामन् मूर्द्धन् अर्यमन् निःसीमन्

लघिमन् महिमन् अणिमन् गरिमन् क्षेपिमन् क्षोदिमन् पटिमन् ह्रसिमन् द्रघिमन् वृद्धिमन् भूमन् प्रेमन् अश्वत्थामन् प्रभृतयः पुल्लिङ्गाः, सीमन् दामन् प्रभृतयः स्त्रीलिङ्गा वमन्तसंयोगशून्या नकारान्ताः शब्दाः शसादौ अल्लोपभाजो भवन्तीति न विस्मरणीयम् । तथाहि राजा राजानौ राजानः । राजानम् राजानौ । राजन्+अस् इति स्थितौ 'अल्लोपोऽनः' इति अल्लोपे श्चुत्वेन नकारस्य ञकारे राञ्ज्+अस् इत्यत्र जकारञकारयोर्योगे ज्ञकारोल्लेखे तस्य विभक्तियोगे राज्ञः राज्ञा राजभ्याम् इत्यादि । ङौ तु—

[२]विभाषा ङिश्योः[१] ६।४।१३६ ( [४]अल्लोपोऽनः[३] ) इति वैकल्पिके अल्लोपे राज्ञि राजनि हे राजन् इत्यादि । एवं श्वन् युवन् मघवन् शब्दा अपि ज्ञेयास्तेषां शसादौ सम्प्रसारणम् । तथाहि श्वन्+अस् इति स्थितौ—

[१]श्वयुवमघोनामतद्धिते[२] ६।४।१३३ ( [३]भस्य सम्प्रसारणम् ) इति सम्प्रसारणे कर्तव्ये—

[२]इग्यणः[१] सम्प्रसारणम्[३] ।१।१।४५। इति नियमात् वस्य उकारे सम्प्रसारणे शु अन्+अस् इति जाते—

[१]सम्प्रसारणाच्च ६।१।१०८ ( [२]अचि पूर्वः[५] एकः[४] पूर्वपरयोः[३] ) इति अकारस्य पूर्वरूपैकादेशे उकारमात्रे जाते शुनः शुना श्वभ्याम् इत्यादि । युवन् शब्दे शसि वस्योकारे सम्प्रसारणे—यु उ अन्+अस् इत्यत्र—

[३]न सम्प्रसारणे [२]सम्प्रसारणम् ६।१।३७ इति यस्य सम्प्रसारणनिषेधे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपेण अकारस्य उकारमात्रे जाते यु उन्+अस् इत्यत्र सवर्णदीर्घे विभक्तिकार्ये यूनः यूना युवभ्यामित्यादि । मघवन्शब्दे सर्वत्रैव विभक्तौ—

[1]मघवा बहुलम्[2] ६।४।१२८। ([2]तृ) इति नकारस्य "तृ" इत्यन्तादेशे ऋल्लोपे मघवत् इति तकारान्ततया भगवच्छब्दवदेकं रूपम्, त्रादेशस्य बहुलतया द्वितीयस्य नकारान्तस्य मघवा, मघवानौ, इत्यादि शसि तु सम्प्रसारणे पूर्वरूपे गुणे मघोनः मघोना मघवभ्यामित्यादि। वृत्रहन् शब्दे तु वृत्रहन् + अस् इत्यत्र अल्लोपे वृत्रह्न् + अस् इत्यत्र—

[2]होहन्ते[1]र्ञ्णिन्नेषु[4] ७।३।५४ (कु[3]) इति कुत्वेन घकारे वृत्रघ्नः वृत्रघ्ना वृत्रहभ्यामित्यादि। पूषन् अर्यमन् शब्दानां तु सुटि करिवत्, शसादौ अल्लोपे राजवत्तत्रापि णत्वकार्य्यविशेषः। पूषा पूषणौ पूषणः। पूषणं पूषणौ पूष्णः। पूष्णा पूषभ्यामित्यादि। अर्वन् शब्दस्य सौ अर्वा हे अर्वन्। अत्र तु—

अर्वणस्त्रसावनञः ६।४।१२७ (अङ्गस्य) इति नकारस्य त्रादेशे अर्वत् इति तकारान्तत्वात् भगवच्छब्दवद्रूपम्।

---

नान्ताः सप्तविधाः शब्दाः सन्ति। एके सुटि उपधादीर्घशालिनः शसादौ अल्लोपिनो यथा—राजादयः। द्वितीयाः सुटि उपधादीर्घशालिनोऽपि शसादौ नाल्लोपिनो यथा—आत्मादयः। तृतीयाः केवलं सौ दीर्घशालिनः शसादौ अविकृतिनो यथा—करिप्रभृतयः। चतुर्थाः सौ दीर्घशालिनोऽपि शसादौ विकृतिनो यथा—वृत्रहादयः। पञ्चमाः सुटि दीर्घशालिनः शसादौ विकृतिनश्च यथा-श्वादयः। यद्यपि प्रथमभेदे पञ्चमभेदोऽप्यन्तर्भवति तथाप्यभावरूपाल्लोपात्सम्प्रसारणे वैलक्षण्यं विद्यत एव। षष्ठाः सर्वत्रैव विकृतिनो यथा पथिन्प्रभृतयः। सप्तमः अर्वन् शब्दः सर्वविलक्षणः।

## सकारान्तः पुल्लिङ्गः चन्द्रमस् शब्दः।

चन्द्रमस् सौ इत्यत्र 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' इति दीर्घे सुलोपे रुत्वे विसर्गे चन्द्रमाः। चन्द्रमसौ। उत्वे गुणे चन्द्रमोभ्याम् चन्द्रमस्+सु इत्यत्र रुत्वे विसर्गे 'विसर्जनीयस्य सः' इति सत्वे चन्द्रमस्सु। सम्बुद्धौ दीर्घाभावात् हे चन्द्रमः इत्यादि। एवं वेधस्-सुचेतस्-सुतेजस्-सुरेतस्-सुमनस्-सुपयस्-सुयशस्-सुसरस्-महौजस्-दिवौकस्-सुवक्षस्-दुर्वासस्-इत्यादयः पुँल्लिङ्गाः स्त्रीलिङ्गाः सकारान्ताः शब्दा ज्ञेयाः। सकारान्तपुँल्लिङ्गे विद्वस्शब्दे तु विशेषः। विद्वस्+सु इति स्थितौ 'उगिदचामिति' नुमि विद्वन्स् + सु इत्यत्र—

[१]सान्तमहतः संयोगस्य[२] ६।४।१० ([६]सर्वनामस्थाने [५]चासम्बुद्धौ [३]नोपधाया दीर्घः[४]) इति नोपधादीर्घे सुलोपे संयोगान्तलोपे सयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वात् नलोपाभावे विद्वान्। विद्वान्स+औ इत्यत्र नश्चापदान्तस्य झलीति अनुस्वारे विद्वांसौ इत्यादि, विद्वस् अस् इति स्थितौ—

[२]वसोः सम्प्रसारणम्[३] ६।४।१३१ ([१]भस्य) इति वस्योकारे सम्प्रसारणे सम्प्रसारणाच्चेति पूर्वरूपे सस्य मूर्धन्यादेशे विदुषः। विद्वस्+भ्याम् इति स्थितौ—

[१]वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः[३]' ८।२।७२। (पदस्य[२]) इति सस्य दकारे विद्वद्भ्याम्। विद्वत्सु। हेविद्वन् इत्यादि। एवम् सेदिवस्-तस्थिवस्-जग्मिवस्-चक्रिवस् प्रभृतयः वस्वन्ताः शब्दा ज्ञेयाः। शसादावपि 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः' इति इडागमाभावे 'सेद्वस्' इति स्थितौ वस्य सम्प्रसारणादिकृत्ये सेदुष इत्यादि। परन्तु श्रेयस्-लघीयस्-द्रढीयस् गरीयस्-प्रथीयस्-ज्यायस्-भूयस्-अणीयस्-प्रभृतयः इयसुन्प्रत्ययान्ताः शब्दाः सुटि

विद्वच्छब्दवत्, तद्भिन्नविभक्तौ चन्द्रमस् शब्दवज्ज्ञेयाः। तथाहि श्रेयान् श्रेयांसावित्यादि, श्रेयसा श्रेयोभ्यामित्यादि।* अत्र सकारान्तेऽपि पुंस् शब्दे एभ्यः सर्वथा विशेषः, तथाहि–पुंस्+सु इति स्थिते—

[1]पुंसोऽसुङ्[2] ७।१।८९ (सर्वनामस्थाने[3]) इति ङित्वादन्त्यस्य सकारस्य असुङादेशे पुमसुङ् सु इति जाते अनुबन्धलोपे पुमस् सु इत्यत्र उगित्वान्नुमि पुमन्स सु इति स्थिते 'सान्तमहतः संयोगस्य' इति नोपधादीर्घे पुमान्स सु इति जाते सुलोपे संयोगान्तलोपे पुमानिति सिद्धम्। 'नश्चापदान्तस्य झलि' इति नुमः नकारस्यानुस्वारे पुमांसौ पुमांसः, पुमांसं पुमांसौ पुंसः, पुंसा संयोगान्तलोपे पुम्भ्याम्। इत्यादि। आशिष्–सजुष्–गिर्–धुर्–पुर्प्रभृति षान्तरेफान्तस्त्रीलिङ्गशब्दानामपि रूपाणि प्रायः चन्द्रमस्शब्दवदेव ज्ञेयानि। केवलं हलादिविभक्तौ विशेषः। तथाहि-आशिष्+सु इत्यत्र षत्वस्यासिद्धत्वात् ससजुषोरुः इति रुत्वे—

[1]र्वोरुपधाया[3] दीर्घ[4] इकः[2] ८।२।७६ ([5]झलि पदान्ते[6] च) इतीको दीर्घे सुलोपे विसर्गे आशीः। आशिषौ। रुत्वे दीर्घे आशीर्भ्याम्। आशिष्+सु इत्यत्र रुत्वे दीर्घे विसर्गे—

---

* सकारान्ताश्चतुर्द्धा सन्ति, तत्र प्रथमः सौ दीर्घी, अन्यत्र हलादौ सन्धिना सहान्यथैव भूत्वा विभक्तियुक्। द्वितीयः सर्वत्रैव विकृतिमान् सुटि नुम्दीर्घशाली हलादौ दकारी शसादावचि सम्प्रसारणी चेति। तृतीयः सुटि नुम्दीर्घभाक् अन्यत्र हलादौ सन्धिभाक् अजादौ च स्वरयुक्। चतुर्थः पुंस् शब्दः सर्वत्रैव विकारी केवलमजादावसर्वनामस्थाने विभक्तियुक्।

[२]वा शरि[१] ८।३।३६;( विसर्गः[३] ) इति वैकल्पिके विसर्गे आशीःसु इति जाते—

[२]नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि ८।३।५८। ([१]इण्कोः सः[३] मूर्धन्यः[४]) इति मूर्धन्ये आशीःषु पदे विसर्जनीयस्य स इति सत्वे ष्टुनाष्टुरिति ष्टुत्वेन षकारे आशीष्षु हे आशीः इत्यादि । एवम् सजूः सजुषौ सजूर्भ्याम् सजूःषु सजुष्षु । हे सजूः । इत्यादि । गीः गिरौ गीर्भ्याम् । गिर् + सु इत्यत्र दीर्घे —

[२]रोः सुपि[१] ८।३।१६ ( [३]एव विसर्गः[४] ) इति विसर्गनिषेधे 'नुम्विसर्जनीय०' इति मूर्द्धन्ये गीर्षु । हे गीः । इत्यादि । एवम् धूः धुरौ धूर्भ्याम् धूर्षु । इत्यादि । पूः पूरौ पूर्भ्याम् पूर्षु । इत्यादि ।

इति पुँल्लिङ्गप्रकरणम् ।

## अथ स्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ।

रमा रुचिर्नदी धेनुर्वाक्स्त्रीश्रीगौर्वधूस्तथा ।
क्षुत्प्रावृट् च शरच्चैव द्वादश स्त्रीषु नायकाः ॥

तत्राबन्तः स्त्रीलिङ्गो रमाशब्दः 'रमते' इति रमा इति विग्रहे रम् धातोः पचाद्यचि रम इत्यस्मात् प्रातिपदिकात्—

[१]अजाद्यतष्टाप्[२] ४।१।४। ( [२]स्त्रियाम् ) इति टापि अनुबन्धस्येत्संज्ञायां लोपे दीर्घे च रमा इत्याबन्तात् 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इति सौ 'हल्ङ्याभ्यः' इति सुलोपे रमा । रमा च रमा च रमे इति विग्रहे रमा शब्दद्वयात् औ विभक्तौ समागतायां 'सरूपाणामेकशेष एक विभक्तौ' इत्येकरमाशब्दशेषे अन्यलोपे रमा + औ इति स्थिते—

[२]औङ आपः[२] ७।१।१८। ( [३]अङ्गात्[४] शी ) इति औङः श्यादेशे अनुबन्धस्येत्संज्ञायां लोपे गुणे च रमे। रमा च रमा च रमा च रमा इति विग्रहे रमाशब्दत्रयात् जसि विभक्तौ समागतायाम् एकशेषकार्ये रमा + जस् इति स्थितौ अनुबन्धलोपे दीर्घे रुत्वे विसर्गे च रमाः। रमाम् रमे रमाः। रमा+आ इत्यत्र—

[१]आङि [२]चापः[४] ७।३।१०५ ( [२]ओसि एत्[५] ) इत्याप एत्वे रमे आ इति जाते अयादेशे रमया। रमाभ्याम् रमाभिः। रमा+ए इत्यत्र—

[२]याडापः[१] ७।३।११३। ( [२]ङितः ) इति टित्वाद् विभक्तेरादौ याडागमे रमाया+ए इति जाते वृद्धौ रमायै। ङसि याडागमे दीर्घे च रमायाः। ओसि एत्वे अयादेशे च रमयोः। आमि आबन्तान्नुटि अनुबन्ध-लोपे रमाणाम्। रमा+ङि इत्यत्र—

[२]ङेराम्[३] नद्याम्नीभ्यः[१] ७।३।११६ इति ङेरामि रमा+आम् इति जाते याडागमे दीर्घे रमायाम्। रमयोः रमासु। सम्बोधने हेरमा+सु इति स्थितौ—

[२]सम्बुद्धौ च ७।३।१०६। ( [१]आप एत्[२] ) इति आप एत्वे 'एङ् ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इति सुलोपे हे रमे। हे रमे, हे रमाः। एवम् अजा, एड्का, वत्सा, अश्वा, चटका, मूषिका, मन्दा, मेधा, गङ्गा, यमुना, विद्या, लता, होरा, निशा, दिशा, यात्रा, तारा, धारा, बाला, माला, हाला, शाला प्रभृतय आबन्ता ज्ञेयाः। अम्बा, अक्का, अल्ला शब्दानान्तु सम्बुद्धौ विशेषः। तथाहि अम्बा+सु इति स्थितौ—

[१]अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः[२] ७।३।१०७। ( [३]सम्बुद्धौ ) इति ह्रस्वे सुलोपे हे अम्ब हे अक्क हे अल्ल। इत्यादि। अवशिष्टं रमावत्। स्त्रीलिङ्गो ह्रस्वे-

कारान्तो रुचिशब्दः । प्रायेणास्य हरिवद् रूपम् रुचिः; रुची, रुचयः । रुचिम्, रुची, स्त्रीत्वान्नत्वाभावे रुचीः । रुच्या रुचिभ्याम् रुचिभिः । रुचि+ए—

[6]ङिति [5]ह्रस्वश्च १।४।६। ( [4]यूस्त्र्याख्यौ[3] नदी[6] / [2]इयङुवङ्स्थानावस्त्री[1] वा[7] ) इति वैकल्पिक्यां नदीसंज्ञायाम्—

[2]आण्नद्याः[1] ७।३।११२। ( [2]ङिताम् ) इति विभक्तेराडागमे रुचि आ+ए इति जाते—

[1]आटश्च ६।१।९०। ( [2]अचि [5]वृद्धिः [4]एका पूर्वपरयोः[3] ) इति वृद्धौ यणि रुच्यै नदीत्वाभावपक्षे 'शेषोघ्यसखि' इति घित्वात् 'घेर्ङिति' इति गुणे अयादेशे रुचये । रुच्याः रुचेः रुच्योः रुचीनाम् । रुचि+ङि इत्यत्र विकल्पतो नदीसंज्ञायाम् ङेरामिति प्राप्तमामं बाधित्वा परत्वात् औत् इति औत्वे प्राप्ते तद् बाधित्वा—

[1]इदुद्भ्याम् ७।३।११७। ( [3]ङेराम्[4] नद्याः[2] ) इति ङेरामि आटि वृद्धौ यणि रुच्याम् पक्षे रुचौ । रुच्योः रुचिषु । हेरुचे ! इत्यादि । एवम्—मति, नति, रति गति, हति, पंक्ति, भक्ति, आसक्ति, व्यक्ति, शक्ति, शान्ति, श्रान्ति, क्षान्ति, क्रान्ति, भ्रान्ति, रात्रि, जाति, नीति, रीति, कीर्ति, उक्ति, बुद्धि, श्रुति, द्रुति, मूर्ति, धूलि, लूनि, धृति, सृति, स्मृति, भृति, मृति, वृत्ति, सम्पृक्ति, हृति, हेति, प्रभृतयः सर्वेऽपि क्तिन्नन्ताः स्त्रीलिङ्गशब्दा ज्ञेयाः, एवं उकारान्तस्त्रीलिङ्गो धेनुशब्दो रुचिवज्ज्ञेयः, केवलमत्रोकारत्वादुकारश्रुतिः, धेनुः, धेनू धेनवः । धेनुम् स्त्रीत्वान्नत्वाभावे धेनूः । धेन्वा, धेनुभ्याम् धेनुभिः । धेन्वै धेनवे, धेन्वाः धेनोः, धेन्वोः, धेनूनाम् । धेन्वाम्, धेनौ, धेनुषु । हे धेनो इत्यादि ।

एवम् रज्जु कु मृदु गुरु तनु रेणु हनु बहु सरयु प्रियङ्गु करेणु कृकवाकु अध्वर्यु प्रभृतयः स्त्रीलिङ्गा ज्ञेयाः। ङीबन्तो नदीशब्दः। सुलोपे नदी, यणि नद्यौ नद्यः। परत्वादमि पूर्वरूपे नदीम्, शसि पूर्वसवर्णदीर्घे स्त्रीत्वान्नत्वाभावे नदीः। नद्या नदीभ्याम् नदीभिः। नदी+ए इत्यत्र—

यू[1]स्त्र्याख्यौ नदी[2] १।४।३। इति नदीसंज्ञायाम् आडागमे आटश्चेति वृद्धौ यणि नद्यै नद्याः नद्योः नदीत्वान्नुटि नदीनाम्। ङौ नदीत्वादामि आडागमे वृद्धौ यणि नद्याम्। अम्बार्थनद्योर्ह्रस्व इति ह्रस्वे ह्रस्वत्वात् सम्बुद्धिलोपे हे नदि। एवम्—देवी, गौरी, सौरी, नारी, हंसी, मानुषी, गोपी, कुन्ती, द्रौपदी, सावित्री, गार्गी, आत्रेयी, मैत्रेयी, मन्दोदरी, काली, धात्री, दात्री, पात्री, गन्त्री, कर्त्री, भवित्री, नेत्री, दण्डिनी, शाङ्खिणी, मन्त्रिणी, ऐन्द्री, धार्मिकी, इत्वरी, गत्वरी, सौपर्णेयी, भगवती, भवती, पचन्ती, याती, यान्ती, दीव्यन्ती, ब्रुवती, सती, जक्षती, अदती, जहती, चिन्वती, तुदती, तुदन्ती, करिष्यती, करिष्यन्ती, रुन्धती, तन्वती, क्रीणती, चोरयन्ती, विदुषी, निषेदुषी, तस्थुषी श्रीमती, श्रेयसी, भवानी, रुद्राणी, मातुलानी, आचार्याणी, चन्द्रमुखी सुस्तनी, सुकेशी, सखी, पुत्री-प्रभृतयः स्त्रीलिङ्गाः शब्दा ज्ञेयाः॥ लक्ष्मीः* तरीः स्तरीः तन्त्रीः अवीः, आसु ङीबन्ताभावान्न सुलोपः। सर्वमन्यन्नदीवदेव। ऊकारान्तस्त्रीलिङ्गो वधूशब्दोऽपि नदीवज्ज्ञेयः। केवलं सौ रुत्वविसर्गौ।

---

* अवीतन्त्रीतरीलक्ष्मीधीह्रीश्रीणामुणादिषु।

सप्तानामपि शब्दानां सुलोपो न कदाचन॥ अत्र लक्ष्म्यन्ताश्चत्वारो नदीवद्, ध्यादयस्तु श्रीवज्ज्ञेयाः।

अन्यत्रोकारत्वाद्वकारश्रुतिः । वधूः वध्वौ वध्वः वधूम् वध्वौ वधूः स्त्रीत्वान्नत्वाभावः । वध्वा वधूभ्यां वधूभिः । वध्वै वध्वाः वध्वोः वधूनाम् । वध्वां वधूषु । सम्बुद्धौ ह्रस्वे हे वधु । एवं चमू श्वश्रू कर्कन्धू अलाबू लक्षणोरू वामोरू करभोरू कद्रू पङ्गू प्रभृतयः दीर्घोकारान्ताः स्त्रीलिङ्गाः शब्दा ज्ञेयाः । ईकारान्तेऽपि स्त्रीशब्दे विशेषः । ङ्यन्तात् स्त्रीशब्दात् सौ सुलोपे स्त्री, स्त्री + औ इत्यत्र—

स्त्रियाः ६।४।७९। ( इयङ् अचि ) इति ङित्वाद् अन्तस्य ईकारमात्रस्येयङादेशे स्त्रियौ, स्त्रियः । स्त्री + अम् इत्यत्र—

[४]वाम्शसोः[३] ६।४।८०। ( [१]स्त्रियाः इयङ्[२] ) इति वैकल्पिके इयङि स्त्रियम् पक्षे पूर्वरूपे स्त्रीम्, शसि स्त्रियः स्त्रीः, स्त्रिया, स्त्रीभ्याम् स्त्रीभिः । स्त्रियै, स्त्रियाः, परत्वान्नुटि स्त्रीणाम् । ङेरामि स्त्रियाम् स्त्रीषु । नदीत्वाद्ध्रस्वे हे स्त्रि शेषं नदीवत् । ङ्यन्तभिन्न—श्रीशब्दे तु इतोऽपि विशेषः । प्रातिपदिकत्वात्सौ रुत्वे विसर्गे च श्रीः, श्री + औ इत्यत्र—

[४]अचि [१]श्नुधातुभ्रुवां [२]य्वोरियङुवङौ[३] ६।४।७७। इति इयङादेशे श्रियौ श्रियः । श्रियम्, श्रियः, श्रिया श्रीभ्यां श्रीभिः, श्रि + ए इत्यत्र 'ङिति ह्रस्वश्च' इति वैकल्पिक्यां नदीसंज्ञायाम् आदि वृद्धौ इयङि श्रियै पक्षे श्रिये, श्रियाः, श्रियः । श्रियोः । श्री + आम् इत्यत्र—

[६]वामि[७] १।४।५। ( [४]यू[३]स्त्र्याख्यौ नदी[५] [२]इयङुवङ्स्थानावस्त्री[१] ) इति नदीत्वान्नुटि णत्वे श्रीणाम् पक्षे श्रियाम्, ङौ नदीत्वाद् ङेरामि नुटं बाधित्वा आडागमे इयङादेशे श्रियाम् पक्षे श्रियि श्रियोः श्रीषु । सम्बुद्धौ हे श्री + सु इति स्थिते—

[५]नेयङुवङ्स्थानावस्त्री[१] १।४।४। ( [४]यूस्त्र्याख्यौ [३]नदी[६] ) इति नदीत्वनिषेधेन ह्रस्वाभावे हे श्रीः हलादौ नदीवत्। एवम्—धीः, ह्रीः, भीः, इत्यादय ईकारान्ताः, भूः, भ्रूः स्रूः द्रूः जूः लूः, इत्यादय ऊकारान्ताश्च स्त्रीलिङ्गशब्दा ज्ञेयाः। ( भूः पृथ्वी। भ्रूः चक्षुषोर्मध्यदेशः। स्रूः स्त्रियां निर्झरे स्रुवे। जूः पिशाची। द्रूः हिरण्यरत्नयोः। लूः छेदनम्। ऋकारान्तेषु मातृ यातृ ननान्दृ दुहितृ प्रभृतयः स्त्रीलिङ्गाः पुंलिङ्ग-ऋकारान्त-पितृशब्दवज्ज्ञेयाः। स्वसृशब्दः कर्तृवज्ज्ञेयः। केवलं शसि स्त्रीत्वान्नत्वाभावः। इत्युक्तमेव प्रसङ्गात् पुंलिङ्गे। स्वसा स्वसारौ स्वसारः स्वसारम् स्वसॄः स्वस्रा स्वसुः स्वसॄणाम् स्वसरि हेस्वसः इत्यादि। ओकारान्तो गोशब्दः स्त्रीलिङ्गः गो + सु इति स्थितौ—

[१]गोतो णित्[३] ७।१।९०। ( [२]सर्वनामस्थानम् ) इति सोर्णित्वे 'अचो ञ्णिति इति' वृद्धौ रुत्वे विसर्गे च गौः गावौ गावः। गो + अम् इत्यत्र—

[१]औतोऽम्शसोः[२] ६।१।९२। ([३]अचि [५]एकः [४]पूर्वपरयोः [६]आ) इत्यनेन शब्दस्थस्य ओकारस्य विभक्तेरकारस्य च उभयोर्मिलित्वा आकारैकादेशे गाम् गाः पूर्वसवर्णदीर्घाभावान्न शसो नकारः। सन्धिकार्ये गवा गोभ्याम्। ङसिङसोः गोः। गवाम् गोषु इत्यादि। एवम्—प्रद्यो सुद्यो प्रभृतय ओकारान्ता उभयलिङ्गाः द्योप्रभृतयः स्त्रीलिङ्गाः शब्दा ज्ञेयाः। वन्तो दिव् शब्दोऽपि स्त्रीलिङ्गोऽस्ति, यस्य सौ दिव् + सु इति स्थिते—

[१]दिव औत्[२] ७।१।८४ ( सौ[३] ) इति व औत्वे दिऔ सौ इतिजाते यणि सोरनुबन्धलोपे रुत्वे विसर्गेच द्यौः दिवौ दिवः, दिवं दिवौ दिवः, दिवा दिव् + भ्याम् इत्यत्र—

[१]दिव उत्[३] ६।१।१३१ ( पदस्य[२] ) इति व उत्वे यणि द्युभ्याम् द्युभ्यः । मूर्धन्यादेशे द्युषु । हे द्यौः, हे दिवौ इत्यादि विभक्तियोगे रूपम् । नौशब्दोऽपि केवलसन्धिकार्य्ये नौः नावौ नावः नावम् नावा नौभ्यामित्यादि रूपं भजते । एवम्—ग्लौ प्रभृतयोऽपि पुँल्लिङ्गा अन्ये चोभयलिङ्गा औकारान्ताः शब्दा ज्ञेयाः । हलन्तेषु चकारान्तः स्त्रीलिङ्गो वाच् शब्दः । वाच् + सु इत्यत्र—

चोः कुः ८।२।३० ( झलि पदान्ते च ) इति कुत्वेन ककारे "झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन गकारे वावसाने इति वैकल्पिके चर्त्वे वाक् वाग् । अजादौ स्वरसंयोगे वाचौ वाचः, वाचं वाचौ वाचः, वाचा । हलादौ कुत्वजश्त्वे वाग्भ्याम् , वाग्भिः इत्यादि । सुपि कुत्वे मूर्द्धन्यादेशे वाक्षु इत्यादि रूपाणि । एवम्–त्वच् शुच् रुज् रुच् ऋच् स्रज् प्रभृतयः स्त्रीलिङ्गाः, पयोमुच् जलमुच् प्रभृतय उभयलिङ्गाः चकारान्ताः, वणिज् भिषज् हुत्भुज् भूभुज् ऋत्विज् सुयुज् प्रभृतयो जकारान्ताश्चोभयलिङ्गाः शब्दा ज्ञेयाः । केवलम् अजादौ चकारजकारश्रुतिरिति विशेषः । ऋतु पूर्वकाद् यज् धातोः—

ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च ३।२।५९ ( क्विन् ) इति क्विन् प्रत्यये ककारेकारनकाराणामनुबन्धानां 'लशक्वतद्धिते' 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्'' 'हलन्त्यम्' इति सूत्रत्रयेण यथाक्रमं लोपे अपृक्तस्य वकारस्य—

[२]वेरपृक्तस्य ६।१।६७ ( [३]लोपः ) इतिलोपे प्रत्ययस्य कित्वात्—

[१]वचिस्वपियजादीनां [२]किति ६।१।१५ ( [३]सम्प्रसारणम् ) इति सम्प्रसारणे यणि ऋत्विज् शब्दस्य—

[२]कृदतिङ्[१] ३।१।९३ ( [२]प्रत्ययः ) इति क्विनः कृत्वात् 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति प्रातिपदिकत्वात् सौ ऋत्विज् + सु इत्यत्र 'हल्ङ्याब्' इति सुलोपे—

क्विन्प्रत्ययस्य कुः ८।२।६२। ( पदान्ते ) इति कुत्वेन गकारे वाऽवसाने इति वैकल्पिके चर्त्वे ऋत्विक् ऋत्विग् ऋत्विजौ इत्यादि। युञ्ज–क्रुञ्चोस्तु सुलोपे संयोगान्तलोपे 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इति नियमात् ञकारस्य नुम्स्थानिकतया नकारोपस्थितौ तस्य 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन ङकारे युङ् युञ्जौ युञ्जः। क्रुङ् क्रुञ्चौ क्रुञ्चः इत्यादि। प्राञ्च् अवाञ्च् प्रत्यञ्च् उदञ्च् सम्यञ्च् सध्र्यञ्च् तिर्यञ्च् इत्यादीनां पुँल्लिङ्गशब्दानां रूपविशेषः। तथाहि प्राञ्च् × सु इति स्थितौ—

[१]अनिदितां हल[२] उपधायाः[४] क्ङिति[६] ६।४।२४। ( [३]अङ्गानां नलोपः[५] ) इत्यनेन सूत्रेण—

नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु।

सकारजः शकारश्चर्षाट्टवर्गस्तवर्गजः'॥ इति नियमात् ञकारस्य नकारतया तल्लोपे प्राच् इति जाते 'उगिदचां सर्वनामस्थाने०' इति नुमि अनुबन्धलोपे प्रान्च् + सु इति स्थितौ सुलोपे संयोगान्तलोपे च प्रान् इत्यस्य 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन ङकारे प्राङ् इति साधुः। प्राञ्च् + औ इत्यत्र नलोपे उगिदचामिति नुमि च कृते अनुस्वारे परसवर्णे सति प्राञ्चौ प्राञ्चः। शसि नलोपे प्राच् अस् इत्यत्र—

अचः ६।४।१३८ ( भस्य अल्लोपः ) इति अलोपे प्रच् इत्यत्र—

चौ ६।३।१३७ ( पूर्वस्य दीर्घः ) इति पूर्वस्वरदीर्घे प्राचः प्राचा,

क्विन् प्रत्ययस्येति कुत्वेन ककारे जश्त्वेन गकारे प्राग्भ्याम्। प्राक्षु इत्यादि। एवमेव अवाङ्, अवाञ्चौ। शसि अवाचः, अवाग्भ्याम् तथा प्रत्यङ्, प्रत्यञ्चौ। शसि नलोपे ततः अलोपे ( निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः ) इति परिभाषया यणोऽभावे प्रतिच्+अस् इत्यत्र 'चौ' इति दीर्घे प्रतीचः प्रतीचा प्रत्यग्भ्यामित्यादि। एवम् 'अञ्चतावप्रत्यये' इत्यधिकृत्य—

समः समिः ६।३।९३ तिरसस्तिर्यलोपे ६।३।९४ सहस्य सध्रिः ६।३।९५ इत्यादिसूत्रैः सम्याद्यादेशेन सम्पन्नानाम् सम्यञ्च् तिर्यञ्च् सध्र्यञ्च् प्रभृतिशब्दानाम् रूपाणि ज्ञेयानि। सम्यङ्, सम्यञ्चौ, समीचः, समीचा, सम्यग्भ्यामित्यादि। तिर्यङ्, तिर्यञ्चौ, तिरश्चः, तिरश्चा, तिर्यग्भ्यामित्यादि। सध्र्यङ्, सध्र्यञ्चौ, सध्रीचः, सध्रीचा, सध्र्यग्भ्यामित्यादि। एवम्–उदङ्, उदञ्चौ, शसि उदच्+अस् इति स्थितौ 'अचः' इति प्राप्तम् अलोपं बाधित्वा—

[१]उद [३]ईत् ६।४।१३९ ([२]अचः) इति ईत्वे 'चौ' इति दीर्घे उदीचः, उदीचा हलादौ उदग्भ्यामित्यादि। पूजार्थकस्य अञ्चतेस्तु—

[४]नाञ्चेः[१] पूजायाम्[२] ६।४।३० ( [३]नलोपः ) इति नलोपनिषेधे प्राञ्च्+सु इत्यत्र सुलोपे संयोगान्तलोपे प्रान् इति जाते 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन नकारस्य ङकारे प्राङ् प्राञ्चौ प्राञ्चः। शसादावपि तथैव नकारविशिष्टं रूपम्। प्राञ्चः प्राञ्चा प्राञ्च्+भ्यामित्यत्र संयोगान्तलोपे कुत्वेन ङकारे प्राङ्भ्याम् प्राङ्भिः। प्राङ्षु।

ङ्णोः कुक्टुक्शरि ८।३।२८ इति कुगागमे प्राङ्क्षु इत्यपि रूपम्। एवं पूजार्थे प्रत्यङादयः अलुप्तनकारा ज्ञेयाः। तथाहि—प्रत्यङ् प्रत्यञ्चौ शसादौ प्रत्यञ्चः प्रत्यञ्चा प्रत्यङ्भ्याम् प्रत्यङ्षु प्रत्यङ्क्षु

इत्यादि। एषां स्त्रीलिङ्गरूपाणि तु प्राची, अवाची, प्रतीची समीची सध्रीची तिरश्ची उदीची इत्यादीनि नदीवज्ज्ञेयानि। वाच् शब्दवदेव शकारान्तहकारान्ताः तादृश् दिश् दृश् स्पृश् उष्णिह् इत्यादि स्त्रीलिङ्गाः-गोदुह् इत्याद्युभयलिङ्गाः शब्दा अपि ज्ञेयाः। केवलमजादौ तेषाम् शकारहकारश्रुतिः। तथाहि तत्पूर्वकात् दृश् धातोः—

[1]त्यदादिषु [2]दृशोऽनालोचने[3] [4]कञ्च[6] ३।२।६० (क्विन्[4])

इति क्विन् प्रत्यये क्विनः सर्वापहारिलोपे सर्वनाम्नश्च 'अलोन्त्यस्य' इति सूत्रबलात् अन्त्यतकारस्य—

[2]आ सर्वनाम्नः[1] ६।३।९१ ([3]दृग्दृशवतुषु) इत्यात्वे सवर्णदीर्घे तादृश् शब्दस्य प्रातिपदिकत्वात् सौ तादृश्+सु इत्यत्र सुलोपे—

[1]व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः[2] ८।२।३६ ([4]झलि पदान्ते[3]) इति शकारस्य षकारे 'झलां जशोऽन्ते' इति षकारस्य डकारे 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन गकारे वावसाने इति वैकल्पिकेन चर्त्वेन ककारे तादृक् तादृग् तादृशौ इत्यादि। एवं दृक् दृग् इत्यत्र षड्गकाः प्राग्वत्। यद्यपि त्यदादिपूर्वकस्यैव दृशः क्विन् भवति तथापि 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' इति सूत्रे क्विन् प्रत्ययो दृष्टो यस्मात् इति बहुव्रीहिसमासाश्रयणेन केवलस्यापि दृशः कुत्वसिद्धिः, यतो हि तादृश् शब्दे दृशस्तु क्विन् दृष्टोऽस्त्येव। एवं दिक् दिग् इत्यत्र 'ऋत्विग्दधृक्स्रग्दि०' इत्यादिना क्विन् ज्ञेयः। ततः षडगकाः प्राग्वत् इत्यादि। घृतस्पृश् शब्दस्य—

स्पृशोऽनुदके क्विन् ३।२।५८ इति क्विनि तदन्तत्वेन प्रातिपदिकत्वात्सौ षडगकाः प्राग्वत्। घृतस्पृक् घृतस्पृग् इत्यादि। एवम् उष्णिह्+सु

इत्यत्र क्विन् प्रत्ययस्येति कुत्वेन घकारे जश्त्वचर्त्वे उष्णिक् उष्णिग् उष्णिहौ इत्यादि । गोदुह् + सु इति स्थितौ सुलोपे—

[१]दादेर्धातो[२]र्घः[४] ८।२।३२ । ([३]हः [५]झलि पदान्ते[६]) इति हस्य घकारे गोदुघ् इति जाते—

[१]एकाचो [३]बशो [४]भष् झषन्तस्य[२] स्ध्वोः[५] ८।२।३७ (झलि[७] पदान्ते[६]) इति दकारस्य धकारे गोधुघ् इत्यत्र घकारस्य जश्त्वेन गकारे तस्य पाक्षिकचर्त्वेन ककारे गोधुक् गोधुग् गोदुहौ गोदुहः । गोधुग्भ्याम् गोधुक्षु इत्यादि । दकारान्तस्त्रीलिङ्गः शरद् शब्दः । अस्मादपि प्रातिपदिकत्वात्सौ, तल्लोपे पाक्षिके चर्त्वे शरत् शरद् शरदौ इत्यादि एवम्–दृषद्, आपद्, विपद्, सम्पद्, परिषद्, प्रतिपद् इत्यादयः केवलस्त्रीलिङ्गाः, सुहृद्, मर्मभिद्, सभासद्, तरुच्छिद्, कुमुद्, तमोनुद्, शास्त्रविद्, धर्मविद्, अरुन्तुद्, हृदयन्तुद्, अश्वनुद्, प्रभृतय उभयलिङ्गा दकारान्ताः शब्दा ज्ञेयाः । एवम्–क्षुध् क्रुध् युध् वीरुध्, समिध् इत्यादयः स्त्रीलिङ्गाः शुध्, बुध्, प्रभृतयः पुँल्लिङ्गाश्च धकारान्ता ज्ञेयाः, केवलमजादौ धकारश्रुतिः । क्षुत् क्षुद् क्षुधौ क्षुद्भ्याम् क्षुत्सु इत्यादि । बुध् शब्दे त्वियान् विशेषः-बुध् + सु इति स्थितौ सुलोपे जश्त्वचर्त्वे 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' इति बस्य भकारे भुद् भुत् बुधौ बुधः भुद्भ्याम् भुत्सु इत्यादि । षकारान्तः स्त्रीलिङ्गः प्रावृष् शब्दः, सौ हल्ङ्याब्भ्य इति सुलोपे जश्त्वेन डकारे पाक्षिकचर्त्वेन टकारे प्रावृट् प्रावृड् प्रावृषौ प्रावृड्भ्याम् प्रावृट्सु, अत्र [६]न[१]पदान्ताट्टो[२]रनाम्[३] ८।४।४२ ([४]स्तोः ष्टुः[५]) ष्टुनाष्टुरिति प्राप्तष्टुत्व निषेधः । एवम्–तृष्-त्विष् रिष्-रुष् निश् इत्यादयः केवलस्त्रीलिङ्गाः, रत्नमुष्, द्विष् विश्-विराज्

सम्राज्-विभ्राज् विश्वसृज-मृज्, देवेज्, लिह् प्रभृतय: उभयलिङ्गाः षकार-शकार-जकार-हकारान्त-शद्वा ज्ञेयाः। केवलमजादौ षकार-शकार जकार हकारश्रुतिः। विश् + सु इति स्थितौ —

**व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः** ८।२।३६ (झलि पदान्ते) इति शस्य षत्वे जश्त्वे वैकल्पिके चर्त्वे विट् विड्, विशौ, विश:, विड्भ्याम् विट्सु। एवम्—विराट् विराड्, विराजौ, विराड्भ्याम्, विराट्सु इत्यादि। लिह् + सु इत्यत्र सुलोपे —

**हो ढः** ८।२।३१ (झलि पदान्ते) इति हस्य ढकारे जश्त्वे चर्त्वे च लिट् लिड्, लिहौ, लिह:, लिहा, लिड्भ्याम् लिट्सु इत्यादि। द्रुह्, मुह्, स्नुह्, स्निह् इति चतुर्णाम् उभयलिङ्गानां हान्तानान्तु – घत्वढत्वाभ्याम् पदान्ते रूपविशेष:। तथाहि मित्रद्रुह्शब्दात् सौ सुलोपे —

[3]**वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम्**[1] ८।२।३३ (हो[2] घ:[4] झलि[5] पदान्ते[6]) इति हस्य घकारे 'एकाचो बशो भष्' इति दकारस्य धकारे जश्त्वे चर्त्वे च मित्रध्रुक्, मित्रध्रुग् पक्षे 'होढः' इति ढत्वे जश्त्वे चर्त्वे च मित्रध्रुट्, मित्रध्रुड् मित्रद्रुहौ, मित्रद्रुह:, मित्रध्रुग्भ्याम् मित्रध्रुड्भ्याम्, मित्रध्रुक्षु मित्रध्रुट्सु इत्यादि। एवमितरेऽपि त्रयो ज्ञेया:। हकारान्तेऽपि पुंसि अनडुह् शब्दे विशेषः। अनडुह् + सु इति स्थितौ—

**चतुरनडुहोरामुदात्तः** ७।१।९८ (सर्वनामस्थाने) इति आमागमे कर्तव्ये 'मिदचोऽन्त्यात्परः' इति उकारस्यान्ते आमि अनुबन्धलोपे अनडु + आह् + सु इति जाते यणि अनड्वाह् + सु इति जाते—

[2]**सावनडुहः**[1] ७।१।८२ ([3]नुम्) इति मित्वादाकारस्यान्ते नुमि अनुबन्धलोपे सुलोपे संयोगान्तलोपे तस्यासिद्धत्वात् नलोपाभावे अनड्-

वान्, अनड्वाहौ, अनडुहः, 'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः' इति दत्वे अनडुद्भ्याम्, अनडुत्सु, सम्बुद्धौ सौ हे अनडुह् + सु इति स्थितौ—

[2]अम् सम्बुद्धौ[3] ७।१।९९ ([१]चतुरनडुहोः) इति अमागमे नुमि सुलोपे संयोगान्तलोपे हे अनड्वन् इत्यादि। स्त्रीलिङ्गे उपानह्शब्दे तु झलि पदान्ते विशेषः। उपानह् + सु इति स्थितौ—

[२]नहो धः[३] ८।२।३४ ([४]झलि पदान्ते[३]) इति हस्य धत्वे जश्त्वे चर्त्वे च कृते उपानत् उपानद् उपानहौ उपानद्भ्याम् उपानत्सु।

इति स्त्रीलिङ्गप्रकरणम्।

## अथ नपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

ज्ञानं दधि पयो वर्म धनुर्वारि जगत्तथा।
मधु नाम मनोहारि दशैतानि नपुंसके॥

अकारान्तो नपुंसकलिङ्गो ज्ञानशब्दः। कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ ज्ञान + सु इति स्थिते—

[१]अतोऽम्[१] ।७।१।२४। (क्लीबात्[२] [३]अङ्गात् [४]स्वमोः) इति सोरमादेशे "अमि पूर्व"-इति पूर्वरूपे ज्ञानम्, ज्ञान+औ इत्यवस्थायाम्—

नपुंसकाच्च ।७।१।१९। (अङ्गात् औङः शी) इति औङः श्यादेशे शस्येत्संज्ञायां लोपे च गुणे ज्ञाने। ज्ञान + जस् इति स्थितौ—

[२]जश्शसोः शिः[४] ।७।१।२०। ([१]नपुंसकात् अङ्गात्[२]) इति जसः शौ तस्य—

'शि सर्वनामस्थानम्' १।१।४२ इति सर्वनामस्थानसंज्ञायाम्—

[२]नपुंसकस्य झलचः[१] ।७।१।७२। ([३]अङ्गस्य [४]नुम् सर्वनामस्थाने[१])

इति नुमि ज्ञानन् + इ इति स्थिते "सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ" इति दीर्घे ज्ञानानि। पुनस्तद्वत्। सम्बुद्धौ एङ् ह्रस्वादिति सुलोपे हे ज्ञान हे ज्ञाने हे ज्ञानानि। शेषं रामवत्। एवं मूल, फल, जल, स्थल, धन, वन, दान, लवण, शास्त्र, मित्र, पत्र, पात्र, गात्र, यन्त्र, हसित, पठित, गमन, भवन, घटत्व, पटत्वादयः शब्दा ज्ञेयाः। इकारान्तनपुंसकलिङ्गो वारि शब्दः। वारि + सु इति स्थिते—

[3]स्वमोर्नपुंसकात्[1] ।७।१।२३। ( [2]अङ्गात् लुक्[4] ) इति सोर्लुकि वारि। वारि + औ इत्यत्र नपुंसकाच्च इत्यौङः श्यादेशे अनुबन्धलोपे वारि + ई इति जाते—

[1]इकोऽचि[4] विभक्तौ[5] ।७।१।७३। ( [2]अङ्गात् नुम्[3] ) इति नुमि णत्वे वारिणी वारीणि। आङो ना वारिणा वारिभ्यां वारिभिः। 'वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति घेर्ङितीति प्राप्तं गुणं प्रबाध्य नुमि वारिणे वारिभ्यां वारिभ्यः। वारिणः वारिभ्यां वारिभ्यः। वारिणः वारिणोः। 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति नुटि वारीणाम्। वारिणि वारिणोः वारिषु। सम्बुद्धौ—हे वारि + सु इत्यत्र सोर्लुकि 'न लुमताङ्गस्य' इति निषेधस्यानित्यत्वात् 'ह्रस्वस्य गुणः' इति—पाक्षिके गुणे—हे वारे! हे वारि! हे वारिणी—हे वारीणि। एवं इकारान्तनपुंसकलिङ्गाः सर्वेऽपि शब्दा ज्ञेयाः। दधिशब्दे केवलं टाद्यजादौ विशेषः। तथाहि—दधि + आ इत्यत्र—

अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः ।६।१।७५। (टादावचि) इति ङित्वादिकारस्यानङि दधन् + आ इत्यत्र—

[3]अल्लोपोऽनः[2] ।६।४।१३४। ( [1]भस्य ) इति अकारलोपे दध्ना,

दधिभ्याम् दधिभिः । दध्ने दधिध्याम् दधिभ्यः । दध्नः दधिभ्याम् दधिभ्यः । दध्नः दध्नोः दध्नाम् । दध्न् + इ इत्यत्र 'विभाषा ङिश्योः' इति वैकल्पिके अल्लोपे दध्नि दधनि दध्नोः दधिषु । हे दधि ! हे दधे ! हे दधिनी ! हे दधीनि ! । एवं अस्थि, सक्थि, अक्षि प्रभृतयः । उकारान्तो नपुंसकलिङ्गो मधु शब्दः । अस्य वारिशब्दवत् सर्वं रूपं ज्ञेयम् । मधु मधुनी मधूनि । पुनस्तद्वत् । मधुना । मधुने । मधुनः । मधुनोः मधूनाम् मधुनि । हे मधो ! हे मधु ! हे मधुनी ! हे मधूनि । एवं सुलु सुनुप्रभृतयो नपुंसकलिङ्गशब्दा ज्ञेयाः । तकारान्तनपुंसकलिङ्गो जगत् शब्दः । जगत् + सु इति स्थिते सोर्लुकि जगत् जगती नुमि जगन्ति पुनस्तद्वत् । तृतीयादिविभक्तियोगे भूभृद्वद्रूपं ज्ञेयम् । नकारान्तो नपुंसकलिङ्गो नामन् शब्दः । नामन् + सु इति स्थिते, सोर्लुकि नलोपे नाम । वैकल्पिके अल्लोपे नाम्नी, नामनी । उपधादीर्घे नामानि । पुनस्तद्वत् । टादावचि अल्लोपे नाम्ना नामन् भ्यामित्यत्र—

[2]स्वादिष्वसर्वनामस्थाने[1] १।४।१७। ( [3]पूर्वं पदम्[3] ) इति पदसंज्ञायाम् नलोपः प्रातिपदिकान्तस्येति नलोपे नामभ्यामित्यादि । ङौ नाम्नि, पक्षे नामनि । एवम् अहन् शब्दोऽपि । किन्तु तस्य हलादिविभक्तौ विशेषः । अहन् + सु इत्यत्र सोर्लुकि—

[2]रोऽसुपि[2] ८।२।६९ ( [1]अह्नः ) इति नस्य रेफे विसर्गे च अहः अह्नी अहनी अहानि । अहन् + भ्याम् इत्यत्र —

[1]अहन् ८।२।६८ ( [2]पदस्य रुः[2] ) इति नकारस्य रुत्वे उत्वे च अहोभ्याम् , अहःसु, हे अहरित्यादि ।

नकारान्तनपुंसकलिङ्गो वर्मन् शब्दः । वर्म, वर्मन् + औ इति स्थिते

'औङः शी'इति श्यादेशे न संयोगाद्वमन्तादिति अल्लोपनिषेधे वर्मणी वर्माणि । पुनस्तद्वत् । टादावात्मवत् । नकारान्तनपुंसकलिङ्गो मनोहारिन् शब्दः । मनोहारि, णत्वे मनोहारिणी मनोहारीणि । पुनस्तद्वत् । शेषं करिवत् । सकारान्तनपुंसकलिङ्गः पयस् शब्दः । पयस्+सु इति स्थिते सोर्लुकि विसर्गे पयः, पयसी । नुमि सान्तमहतस्संयोगस्येति दीर्घे नस्यानुस्वारे पयांसि । पुनस्तद्वत् । शेषं चन्द्रमोवत् ॥ षकारान्तो नपुंसकलिङ्गो धनुष् शब्दः । षत्वस्यासिद्धत्वात् रुत्वे धनुः, धनुषी, धनूंषि । पुनस्तद्वत् । धनुषा-धनुर्भ्यामित्यादि ॥

इति नपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ।

## सर्वनामप्रकरणम्

सर्वः सर्वा च सर्वञ्च स सा तत्त्वमहन्तथा ।
अयञ्चेयमिदञ्चासावसावद इहोदिताः ॥

सर्वनामगणस्थतया सर्वनामत्वात् त्रिलिङ्गेषु विशेषरूपवत्सु च शब्देषु अकारान्तः पुंलिङ्गः सर्वशब्दः - स च सामान्यतो रामशब्दवदेव ज्ञेयः । विशेषस्थले सर्वादिकार्यं प्रदर्शयिष्यते । सर्वः सर्वौ, सर्व + जस् इति स्थिते 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इति सर्वनामसंज्ञायाम्—

[४]"जसः शी[५] ७।१।१७ ( अतः[१] अङ्गात्[२] सर्वनाम्नः[३] ) इति जसः श्यादेशे अनुबन्धलोपे गुणे सर्वे । सर्वम् सर्वौ सर्वान् । सर्वेण सर्वाभ्याम् सर्वैः । सर्व + ङे इत्यत्र—

[३]सर्वनाम्नः स्मै[५]।७।१।१४। ( [१]अतः [२]अङ्गात् ङेः[४] ) इति ङे

विभक्तेः स्मै इत्यादेशे सर्वस्मै । सर्वाभ्याम्–सर्वेभ्यः । सर्व + ङसि इत्यत्र—

[2]ङसिङ्योः [3]स्मात्स्मिनौ ७।१।१५ ([1]अतः सर्वनाम्नः) इति 'ङसः' 'स्मात्' इत्यादेशे कृते वैकल्पिके चर्त्वे जश्त्वे च सर्वस्मात् सर्वस्माद् सर्वाभ्याम् सर्वेभ्यः । सर्वस्य सर्वयोः सर्व + आम् इति स्थितौ—

आमि सर्वनाम्नः सुट् । ७।१।५२। इति टित्वादाम आदौ सुटि अनुबन्धस्य इत्संज्ञालोपे, एत्वे, षत्वे च 'सर्वेषाम्' । सर्व + ङि इति स्थितौ ङेः स्मिन् इत्यादेशे कृते सर्वस्मिन् सर्वयोः सर्वेषु । हे सर्व ! हे सर्वौ ! हे सर्वे ! एवमेव सर्वेऽपि विश्वादयः सर्वादिगणस्थाः शब्दा ज्ञेयाः । एषां यो हि विशेषसाधनप्रकारः स च यथासौविध्यं प्रदर्शयिष्यते । स्त्रीलिङ्गे तु सामान्यतो रमाशब्दवद्रूपम्, केवलं सर्वादिकार्ये विशेषः । तद्यथा 'अजाद्यतष्टाप्' इति टापि, दीर्घे, 'ङ्याब्विति' स्वाद्युत्पत्तौ तल्लोपादिकार्ये सर्वा सर्वे सर्वाः । सर्वाम् सर्वे सर्वाः । सर्वया सर्वाभ्याम् सर्वाभिः, सर्वा+ ङे इत्यत्र अनुबन्धस्येत्संज्ञालोपे—

[2]सर्वनाम्नः [4]स्याड्ढ्रस्वश्च[5] । ७।३।११४ ([1]आबन्तात् ङित[3] [4]आपः) इति टित्वाद्विभक्तेरादौ स्याडागमे, आपश्च ह्रस्वे सर्वस्या+ए इति जाते वृद्धौ सर्वस्यै । सर्वाभ्याम् सर्वाभ्यः । सर्वा + ङसि इत्यत्र स्याटि आपश्च ह्रस्वे दीर्घे सर्वस्याः सर्वाभ्याम् सर्वाभ्यः । षष्ठ्येकवचने ङसिवत् । सर्वस्याः । ओसि सर्वयोः, सर्वा + आम् इत्यत्र सुटि सर्वासाम् सर्वा + ङि इति स्थितौ ङेराम्नि स्याटि, आपश्च ह्रस्वे दीर्घे सर्वस्याम् । सर्वयोः सर्वासु । हे सर्वे ! हे सर्वे ! हे सर्वाः ! नपुंसकलिङ्गे तु प्रथमाद्वितीययोः ज्ञानवत् । शेषं पुंलिङ्गसर्वशब्दवद्रूपम् । तद्–(वह) शब्दस्य पुंलिङ्गे

तद् + सु इति स्थिते त्यदादित्वात्—

त्यादादीनामः ७।२।१०२ ( विभक्तौ इति अकारान्तादेशे कृते—

[2]अतो [3]गुणे ६।१।९४ ( [7]संहितायाम् [5]एकः [4]पूर्वपरयोः [6]पररूपम् [1]अपादान्तात् ) इति पररूपे त सु इति जाते—

तदोः[3] [4]सस्सा[5]वनन्त्ययोः[2] । ७।३।१०६ ( [1]त्यदादीनाम् ) इति तकारस्य सकारे रुत्वे विसर्गे च सः तौ ते । शेषं सर्वशब्दवत् । एवं त्यद् , यद् , शब्दयोः स्यः त्यौ त्ये । यः यौ ये इत्यादि । एतच्छब्दे षत्व-कार्यं विशेषः । एषः एतौ एते इत्यादि । स्त्रीलिङ्गे अत्वे, टापि, दीर्घे, स्वाद्युत्पत्तौ सत्वे, सुलोपे सा ते ताः । शेषं सर्वावद्रूपम् । एवं स्या त्ये त्याः । या ये याः । एषा एते एताः । इत्यादि । नपुंसकलिङ्गे सोर्लुकि वैकल्पिके चर्त्वे तत् , तद् । तद् + औ इति स्थितौ अत्वे, औङः श्यादेशे, गुणे ते । तानि । पुनस्तद्वत् । टादौ पुंवत् । एवं, त्यद् एतद्., शब्दा ज्ञेयाः । युष्मद् ( तुम ) अस्मद् ( मैं ) शब्दौ त्रिषु लिङ्गेषु समानौ । युष्मद् + सु, अस्मद् + सु इति स्थिते—

[2]ङे [3]प्रथमयोरम्[4] ।७।१।२८। ( [1]युष्मदस्मद्भ्याम् ) इति सोः अमि—

त्वा[2]हौ सौ[4] ।७।२।९४। ( युष्म[1]दस्मदोर्मपर्यन्तस्य[3] ) इति मपर्यन्तस्य त्वाहादेशे । त्व अद् + अम् , अह अद् + अम् इति जाते— 'अतोर्गुणे' इति पररूपे त्वद् + अम् , अहद् + अम् इति स्थिते—

शेषे[1] लोपः[2] ।७।२।९० इति टिलोपे स्वरसंयोगे त्वम् अहम् । औ विभक्तौ—

[3]युवावौ द्विव[4]चने ७।२।१२। [1]युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य[2] ( इति

यथावसरं सर्वत्र सन्निवेशः ) इति युवावादेशे पररूपे—

प्रथमायाश्च[1] द्विवचने[2] भाषायाम्[4] ।७।२।८८। ( आत्वम्[3] ) इति अन्त्यस्यात्वे दीर्घे युवाम् आवाम्। जस्विभक्तेरमादेशे—

[4]यूयवयौ [3]जसि । ७।२।९३। ( [1]युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य[2] ) इति मपर्यन्तस्य यूयवयादेशे अन्त्यलोपे यूयम् वयम्। अमि—

[4]त्वमावेकवचने[3] ७।२।९७। ( [1]युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य[2] ) इति मपर्यन्तस्य त्वमादेशे—

[3]द्वितीयायां च ।७।२।८७। ( [1]युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य[2] आत्[4] ) इति अस्यात्वे दीर्घे त्वाम् माम्। शसि तु—

[3]शसो नः[4] ।७।१।२९। ( युष्मदस्मद्भ्यां[1] परस्य[2] ) आदेः परस्य इति विभक्तेरादेर्नकारे संयोगान्तलोपे आत्वे दीर्घे च युष्मान् अस्मान्

युष्मद् + टा अस्मद् + टा इति स्थिते, मपर्यन्तस्य त्वमादेशे पररूपे—

[1]योऽचि[2] ७।२।८९। इति दस्य यत्वे त्वया, मया। युवादेशे—

[2]युष्मदस्मदोरनादेशे[1] ।७।२।८६। ( आत्[3] हलादौ[5] विभक्तौ[6] ) इत्यात्वे युवाभ्याम् आवाभ्याम्। ङेः अमि—

[4]तुभ्यमह्यौ [3]ङयि ७।२।९५। ( [2]युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य[1] ) इति मपर्यन्तस्य तुभ्यमह्यादेशे शेषलोपे तुभ्यम् मह्यम्। युवाभ्याम् आवाभ्यम्। भ्यसि—

[1]भ्यसो भ्यम्[2] ७।१।३०। इति विभक्तिकार्ये शेषलोपे युष्मभ्यम् अस्मभ्यम्। ङसौ तु, मपर्यन्तस्य त्वमादेशे पररूपे—

एकवचनस्य[1] च ७।१।३२। ( अत्[2] ) इति विभक्तेरदादेशे शेषलोपे च स्वरसंयोगे त्वत् मत् युवाभ्याम् आवाभ्याम्—

पञ्चम्या[1] अत्[2] । ७।१।३१। ( भ्यसः[2] ) इति विभक्तेरदादेशे टिलोपे युष्मत् अस्मत् ।

[4]तवममौ ङसि[3] । ७।२।९६ । ( [2]युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य[1] ) इति मपर्यन्तस्य तवममादेशे—

[1]युष्मदस्मद्भ्यां [2]ङसोऽश्[3] । ७।१।२७। इति विभक्तिकार्ये तव–मम ।

साम[2] आकम्[3] । ७।१।३३। ( [1]युष्मदस्मद्भ्याम् ) इति भाविसुट्सहितस्यैवाम आकमादेशे लोपकार्ये च युष्माकम् अस्माकम् । ङौ तु मपर्यन्तस्य त्वन्मदादेशे यत्वे च त्वयि मयि, युवयोः आवयोः, युष्मासु अस्मासु ।

[7]त्वामौ [4]द्वितीयायाः ८।१।२३ पदात्[1] अपादादौ[2] युष्मदस्मदोः[3] [5]एकवचनस्य पदस्य[6] )

[7]तेमयावेकवचनस्य[5] ८।१।२२ पदात् [1]अपादादौ[2] षष्ठी[3]चतुर्थीस्थयोः [4]युष्मदस्मदोः पदस्य[6] )

[4]युष्मदस्मदोः [3]षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वांनौ[6] ८ । १ । २० ( [1]पदात् [2]अपादादौ [5]पदस्य )

[5]बहुवचनस्य [7]वस्नसौ ८।१।२१ ( पदात्[1] अपादादौ[2] युष्मदस्मदोः[4] षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः[3] पदस्य[6] ) इत्येतेषां सूत्राणां बलेन पदात् परतः श्लोकेषु च पादादौ न स्थितयोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः युष्मदस्मदोः पदस्य द्वितीयैकवचने त्वा मा, षष्ठीचतुर्थ्येकवचने ते मे, तासां द्विवचने वांनौ, बहुवचने वस् नसौ इत्यादेशा भवन्ति । तथाहि—

अवेत्त्वां मा गिरां देवो दद्यात्ते मे बलं शिवम् ।
ज्ञानं ते मे सदा रक्षेत् पायाद्वां नौ सरस्वती ॥

विद्यां वां नौ शुभां यच्छेत् तां वां नौ वर्धयेत्सदा ।
साऽव्याद्वो नः सुखं वोनो दत्ताद्वोनो यशोऽवतात् ॥

गिरां देवी त्वां माम् अवेत् रक्षेदित्यर्थः । तुभ्यं मह्यं शिवं बलं दद्यात् । तव मम ज्ञानं सदा रक्षेत् । सरस्वती युवाम् आवां पायात् । युवाभ्यां आवाभ्यां शुभां विद्यां यच्छेत् दद्यात् । युवयोः आवयोः तां विद्यां सदा वर्धयेत् । सा सरस्वती युष्मान् अस्मान् अव्यात् । युष्मभ्यम् अस्मभ्यं सुखं दत्तात् । युष्माकम् अस्माकं यशः कीर्तिम् अवताद् रक्षतात् ।

[4]न [1]चवाहाऽहैवयुक्ते ८।१।२४ ( [2]युष्मदस्मदोः वांनावादयः[3] ) इति सूत्रबलाद् देवी त्वां मां च रक्षतु, कथं त्वां मां वा न रक्षेदित्यादौ त्वामौ द्वितीयायाः इति प्राप्तः त्वामादेशो न भवति । प्रतिलिङ्गं भिन्न-रूपस्य 'इदम्' शब्दस्य पुँल्लिङ्गे इदम् सु इति स्थिते ।—

[1]इदमो म[3]: । ७ । २ । १०८ ( [2]अङ्गस्य सौ[4] ) इति त्यदाद्यत्वं बाधित्वा मत्वविधाने—

[2]इदोऽय्[3] पुंसि[4] ७।२।१११ ( [1]इदमः सौ[4] ) इतीदः अयादेशे अयम् + सु इति जाते हल्ङ्याब्भ्य इति सुलोपे अयमिति सिद्ध्यति । दम् + औ इत्यत्र त्यदादिकार्ये वृद्धौ इदौ इति जाते —

[2]दश्च ७ । २ । १०९ ( [1]इदमो[3]मः विभक्तौ[4] ) इति दस्य मत्वे इमौ । इदम् जस् इति स्थिते त्यदादिकार्ये जसः शी इति श्यादेशे विभक्ति-कार्ये गुणे दस्य मत्वे इमे । इमम् , इमौ, इमान् । इदम् टा इति स्थितौ त्यदादिकार्ये इनादेशे गुणे इदेन इति स्थितौ—

[4]अना[5]प्यकः[1] ७।३।११२ ( [2]इदमः इदः[3] विभक्तौ[6] ) इति दः अनादेशे अनेन । इद + भ्यामित्यत्र—

[५]हलि लोपः[४] ७।२।११३। ( [१]अकः [२]इदमः इदः[३] विभक्तौ[६] ) इति इदो लोपे अभ्यामिति जाते—

[२]आद्यन्तवदेकस्मिन्[१] १।१।२१। इति आद्यन्तवद्भावे सुपि चेति दीर्घे । आभ्याम् इद + भिस् इत्यत्र हलि लोपे—

[५]नेदम[२]दसोरकोः[१] ७ । १ । ११ ( [३]भिस ऐस्[४] ) इति भिस ऐस्त्वनिषेधे बहुवचने झल्येदित्येत्वे एभिः । अस्मै, आभ्याम् , एभ्यः । अस्मात्, आभ्याम् , एभ्यः । अस्य । इद + ओस् इति स्थितौ अनाप्यक इति इदोऽनादेशे ओसि चेत्येत्वे अयादेशे अनयोः एषाम् । अस्मिन्, अनयोः, एषु । 'किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानमन्वादेशः' । यथाऽनेन व्याकरणमधीतमेनं छन्दोऽध्यापयेत्यर्थं—

[५]द्वितीयाटौस्स्वेनः[४] २ । ४ । ३४ । ( [२]इदम [३]एतदोऽन्वादेशे[१] ) इति द्वितीया टा ओस् विभक्तिषु एनादेशे एनम् , एनौ, एनान् , एनेन, एनयोः । इति पञ्च रूपाणि भवन्ति । स्त्रीलिङ्गे —इदम्+सु इति स्थिते—

[४]यः सौ[५] ७ । २ । ११० ( [१]इदमो [२]अङ्गस्य दः[३] ) इति दकारस्य यकारे कृते, हल्ङ्यादिना सुलोपे इयम् । इदम् + औ इत्यत्र त्यदाद्यत्वे टापि दीर्घे दस्य मत्वे इमा औ इति जाते 'औङ आपः' इति औङः शीभावे अनुबन्धलोपे गुणे इमे, इमाः । इमाम् , इमे, इमाः । अनया, आभ्याम्, आभिः । अस्यै, आभ्याम्, आभ्यः । अस्याः, आभ्याम्, आभ्यः । अस्याः, अनयोः, आसाम् । अस्याम् , अनयोः, आसु । नपुंसके तु सोर्लुकि इदम् + औ इत्यत्र त्यदाद्यत्वे नपुंसकाच्चेत्यौङः शीभावे अनुबन्धलोपे गुणे दश्चेति दस्य मत्वे इमे, इमानि पुनस्तद्वत् । शेषं नपुंसकसर्वशब्दवत् । प्रतिलिङ्गं भिन्नरूपस्य सर्वनाम्नः 'अदस्' शब्दस्य पुंल्लिङ्गे अदस् सु इति स्थिते—

[1]अदस [2]औ [4]सुलोपश्च ७।२।१०७ (सौ[3]) इति सकारस्यौकारे सुलोपे वृद्धौ अदौ इति जाते तदोः सः सावनन्त्ययोरिति दकारस्य सकारे असौ इति। अदस्+औ इति स्थिते त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे वृद्धौ अदौ इति जाते—

अदसोऽसेर्दादु दोमः ८।२।८० इति मत्वोत्वे अमू, अदस्,+जस् इति स्थिते त्यदाद्यत्वादिकार्ये अदे इति जाते—

[4]एत [5]ईद् बहुवचने[6] ८।२।८१ ([2]अदसोऽ[1]सेर्दा[3]द् दोमः[7]) इति मत्वेत्वे अमी, त्यदाद्यत्वादि-सर्वादि-गणकृत्ये मत्वोत्वे च अमुम्, अमू, अमून्। त्यदाद्यत्वे अद+टा इति स्थिते मत्वोत्वे आङोनास्त्रियामिति नाभावे कर्तव्ये 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति प्राप्ताया मुत्वासिद्धेः—

[3]न मु[2]ने[1] ८।२।३ ([4]असिद्धम्) इति निषेधे अमुना अमूभ्यां अमीभिः। अमुष्मै, अमूभ्याम् अमीभ्यः। अमुष्मात् अमूभ्याम् अमीभ्यः अमुष्य अमुयोः अमीषाम्। अमुष्मिन् अमुयोः अमीषु। स्त्रीलिङ्गे तु सौ पुंवत्कार्ये असौ, औङि त्यदाद्यत्वे टापि शीभावे ऊत्वमत्वे अमू। अग्रे त्यदाद्यत्वे टापि सर्वादिगणकृत्ये मत्वोत्वे अमूः। अमूम् अमू अमूः। अमुया अमूभ्याम् अमूभिः। अमुष्यै अमूभ्याम् अमूभ्यः। अमुष्याः अमूभ्याम् अमूभ्यः। अमुष्याः अमुयोः अमूषाम्। अमुष्याम् अमुयोः अमूषु। नपुंसके तु स्वमोर्लुकि अदः। औङि त्यदाद्यत्वे विभक्तिकार्ये मत्वोत्वे अमू जश्शसोः अमूनि शेषं पुंवत्।

इति सर्वनामप्रकरणम्

# संख्याप्रकरणम्

कति द्वौ द्वे त्रयस्तिस्रस्त्रीणि चत्वार इत्यपि ।
चतस्रश्चापि चत्वारि पञ्च षट् गणिताः क्रमात् ।

नित्यं बहुवचनान्तस्त्रिलिङ्ग्यामपि समानरूपः कतिशब्दः । सर्वत्रैव लिङ्गेषु कति + जस्, शस् इति स्थिते ।—

डति[1] च १ । १ । २५ ॥ ( [2]संख्या [3]षट् ) इति षट् संज्ञायाम्—

[1]षड्भ्यो लुक्[3] । ७ । १ । २२ ॥ ( जश्शसोः[2] ) इति विभक्त्योर्लुकि कति२ शेषं हरिवत् । नित्यं द्विवचनान्तस्त्रिलिङ्गो द्विशब्दः । तत्र पुंसि द्वि + औ इत्यत्र त्यदादीनाम इत्यत्वे द्व + औ इति जाते वृद्ध्येकादेशे द्वौ पुनस्तद्वद् द्वौ अत्वे कृते दीर्घे द्वाभ्याम् ३ । एत्वयत्वयोः द्वयोः २ स्त्रीलिङ्गे त्यदाद्यत्वे टापि दीर्घे औङः श्यादेशे गुणे द्वे २ इत्यादि रमावद्रूपम् । नपुंसके त्यदाद्यत्वे कृते विभक्तिकार्ये सम्पादिते ज्ञानवद् द्विवचने एव रूपम् । नित्यं बहुवचनान्तस्त्रिशब्दस्त्रिलिङ्गश्च । तत्र पुंसि हरिवद् गुणादिकार्य्ये त्रयः त्रीन्, त्रिभिः, त्रिभ्यः २, त्रि + आम् इत्यत्र—

[1]त्रेस्त्रयः[2] ॥ ७ । १।५३ ॥ ( आमि[2] ) इति त्रयादेशे नुटि दीर्घे णत्वे त्रयाणाम्, त्रिषु । हे त्रयः । स्त्रीलिङ्गे तु त्रि + जस् त्रि + शस् इति स्थिते—

[1]त्रिचतुरोः [3]स्त्रियां तिसृचतसृ[2] ॥ ७ । २ । ९९ ॥ (विभक्तौ[4]) इति तिस्रादेशे ऋतो ङीति प्राप्तं गुणं बाधित्वा गुणदीर्घोत्त्वापवादत्वेन—

[4]अचि[3]र [2]ऋतः ॥ ७ । २ । १०० ॥ ( [1]तिसृचतसृ [5]विभक्तौ । इति ऋकारस्य रकारे कृते स्वरसंयोगे विसर्गे च तिस्रः । तिसृभिः ।

तिसृभ्यः । तिसृ + आम् इति स्थिते नुटि तिसृ + नामिति जाते प्राप्तस्य दीर्घस्य—

[3]न तिसृचतसृ[1] ॥ ६ । ४ । ४ ( [2]आमि [4]दीर्घः ) इति निषेधे ( ऋवर्णान्तस्य णत्वं वाच्यम् ) इति णत्वे तिसृणाम् । तिसृषु । हे तिस्रः । नपुंसके जसि शसि वारिवत् कार्य्ये त्रीणि । त्रीणि । शेषं पुंवत् । चतुर्-शब्दो नित्यं बहुवचनान्तस्त्रिलिङ्गः । चतुर् + जस् इत्यत्र चतुरनडुहोरामुदात्त इत्यामि कृते यणि चत्वारः । अन्यत्र चतुरः । चतुर्भिः । चतुर्भ्यः । चतुर् + आमित्यत्र—

षट्चतुर्भ्यश्च ॥ ७ । १ । ५५ ॥ ( आमि नुट् ) इति नुटि—अनुबन्धलोपे णत्वे चतुर्णाम्—इति जाते—

[1]अचो [2]रहाभ्यां द्वे[5] ॥ ८ । ४ । ४६ ॥ ( [3]यरो [4]वा ) इति द्वित्वे चतुर्ण्णाम् ।

रोः सुपि ८ । ३ । १६ ( रोरेव विसर्गः ) इति नियमाद् विसर्गाभावे चतुर्षु । हे चत्वार इति । स्त्रीलिङ्गे तु पूर्वसूत्रैः स्त्रीलिङ्गत्रिशब्दवदेव साधनप्रकारः । चतस्रः २ । चतसृभिः । चतसृभ्यः २ । चतसृणाम् । चतसृषु । हे चतस्रः नपुंसके तु चतुर् + जस् चतुर् + शस् इति स्थिते जश्शसोः शिः इति तयोः शौ कृते तस्य सर्वनामस्थानत्वात् आमागमे च चत्वारि । चत्वारि । शेषं पुंवद्रूपम् ॥ त्रिलिङ्ग्यां समानरूपो नित्यं बहुवचनान्तो नकारान्तः पञ्चन् शब्दः—

[1]ष्णान्ता [3]षट् ॥ १ । १ । २४ ॥ ( [2]संख्या ) इति षट् संज्ञायाम् षड्भ्यो लुक् इति जश्शसोर्लुकि नलोपे पञ्च । पञ्च । पञ्चन् + भिस् इत्यत्र स्वादिष्वसर्वनामस्थाने इति पदसंज्ञायां 'नलोपः प्रातिपदिका-

न्तस्य' इति नलोपे पञ्चभिः। पञ्चभ्यः २। पञ्चन् + आम् इत्यत्र षट्चतुर्भ्यश्च इति नुमि पञ्चन् + नाम् इति जाते—

[१]नोपधायाः ६। ४। ७॥ ([२]दीर्घः [३]नामि) इति उपधादीर्घे नलोपे पञ्चानाम्। पञ्चसु। हे पञ्च इति। एवं स्त्रीनपुंसकयोरपि। त्रिलिङ्ग्यां समानरूपो नित्यं बहुवचनान्तः षष् शब्दः, तस्माद् जश्शसोर्लुकि जश्त्वे वैकल्पिके चर्त्वे च। षट् षड्। जश्त्वे षड्भिः। षड्भ्यः षड्भ्यः। नुटि सन्धिकार्ये षण्णाम्। षट् + सु इति जाते ष्टुना ष्टुरिति प्राप्तस्य षत्वस्य—

[६]न [१]पदान्ताट्टो[२]रनाम्[३]। ८। ४। ४२। ([४]स्तोः ष्टुः[५]) इति निषेधे षट्सु। हे षट् इत्यादि। स्त्रीनपुंसकयोरप्येवं रूपाणि। एवं सप्तादयोऽष्टादशान्ताः त्रिष्वपि लिङ्गेषु सर्वेऽपि समानरूपाः पञ्चवत् ज्ञेयाः। ऊनविंशत्यादयो नवनवत्यन्ताः सर्वेऽपि शब्दाः स्त्रीलिङ्गा एकवचनान्ताः। विंशतिः ब्राह्मणाः। त्रिंशत्। चत्वारिंशत्। पञ्चाशत्। षष्टिः। सप्ततिः। अशीतिः। नवतिः। तत्र तकारान्ताः शरद्वत्, इकारान्ता मतिवत्। संख्येयार्थे एकवचनान्तः शत-सहस्रादिशब्दो नपुंसकलिङ्गो ज्ञानशब्दवज्ज्ञेयः, शतं छात्रा इत्यादि। इति संख्याप्रकरणम्।

## अथाव्ययप्रकरणम्

स्वर्शब्दात्—अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् इति प्रातिपदिकत्वात् स्वादिविभक्तौ समागतायाम्—

स्वरादिनिपातमव्ययम्॥ १। १। ३७॥ इत्यव्यय-संज्ञायाम्—

[१]अव्ययादाप्सुपः[२]॥ २। ४। ८२॥ ([३]लुक्) इति सुपो लुकि

विसर्गे स्वः । एवं स्वरादीनां निपातानाञ्च सर्वेषामप्यव्ययानां सर्वत्र विभक्तौ समानमेव रूपम् । तथा हि प्राचीनोक्तिः—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ १ ॥



कियन्ति तानि निर्दिश्यन्ते—स्वर् प्रातर् अन्तर् उच्चैस् नीचैस् शनैस् ऋते युगपत् आरात् पृथक् श्वस् ह्यस् दिवा नक्तं सायं चिरं मनाक् ईषत् तूष्णीम् बहिस् अधस् समया निकषा स्वयम् ननु अद्धा सामि वत्—( विधुवत् हरिवत् इत्यादि ) सना तिरस् अन्तरा अन्तरेण सहसा विना नाना स्वस्ति स्वाहा स्वधा अलम् वषट् श्रौषट् वौषट् अस्ति उपांशु वृथा मृषा मिथ्या मुधा पुरा मिथस् प्रायस् मुहुस् अभीक्ष्णम् साकम् सार्धम् नमस् धिक् हिरुक् अथ आम् माङ् कामम् साम्प्रतम् साक्षात् सत्यम् मंक्षु संवत् अवश्यम् सपदि आविस् अनिशम् नित्यम् सदा अजस्रम् ओम् भूर् भुवर् झटिति झगिति शीघ्रम् अञ्जसा सु कु स्थाने वरं सुदि वदि आहोस्वित् दिष्ट्या इव अद्यत्वे इति—( स्वरादिराकृतिगणः ) अथ निपातानाह—

चादयोऽसत्वे १।४।५७ ( निपाताः ) इति चादीनां निपातसंज्ञायां 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' इत्यव्ययत्वाद् 'अव्ययादाप् सुपः' इति सुपो लुकि च वा अह एव एवं नूनम् शश्वत् भूयस् चेत् कच्चित् किञ्चित् यावत् तावत् रे आहो उताहो अहो नो अथो तु नु इति बत सत्यम् नहि जातु कथम् अव अनु हा कम् खम् पशु सह अङ्ग अये अरे खलु किल सुष्ठु स्म आः हे भो है यथा यत् इति ( चादिरप्याकृतिगणः )

[१]उपसर्गविभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च अवदत्तम् अहंयुः अस्तिक्षीरा अ आ इ ई उ ऊ ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः। एवमन्येऽपि। पारिभाषिका अव्ययाः। यथा—

**तद्धितश्चासर्वविभक्तिः** १। १। ३८।, (अव्ययम्) तदा सर्वदा (तसिलादयः प्राक् पाशपः शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः। अम् आम्। कृत्वोऽर्थाः। तसिवती नानाञौ—

[२]**कृन्मेजन्तः**[२] ।१।१।३९॥ ([३]अव्ययम्) स्मारम्, स्मारम्। जीवसे।

**क्त्वातोसुन्कसुनः** । १। १। ४०॥ (अव्ययम्) कृत्वा, उदेतोः, विसृपः।

**अव्ययीभावश्च** १ १। ४१॥ (अव्ययम्) अधिहरि। कृते बहुव्रीहौ सर्वे त्वव्यया अप्यनव्ययाः। आगतेऽध्यापके बालाः कृततूष्णीम आभवन्। इति। वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः। आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा॥ २॥

**प्रादयः** १। ४। ५८ (निपाताः) इति सूत्रेण प्रादयोऽपि निपाता भवन्ति। तथाहि—प्रपरापसमन्ववनिर्दुरभिव्यधिसूदतिनिप्रति पर्यपयः। उप आङिति विंशतिरेष सखे! उपसर्गगणः कथितः कविना। एते प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञां गतिसंज्ञां च लभन्ते।

[३]**उपसर्गाः** [२]**क्रियायोगे** १।४।५९। [४]**गतिश्च** १।४।६०। ([१]प्रादयः)—

इत्यव्ययप्रकरणम्।

---

(१) प्रतिरूपकशब्दस्य प्रत्येकं योगः तथाच उपसर्गप्रतिरूपकं अवदत्तमित्यादि। विभक्तिश्च सुप्तिङुभयरूपा तत्र सुबन्तप्रतिरूपकं अहम्, वाम् अहंयुरित्यादि। तिङन्तप्रतिरूपकम्—अस्तिक्षीरेत्यादि। स्वरप्रतिरूपकम—अ, आ इत्यादि।

## अथ स्त्रीप्रत्ययाः

स्त्रियाम् ४ । १ । ३ (अधिकारः समर्थानाम् प्रथमाद्वा ४।१।८२ इति यावत् ) अजशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायाम्—

अजाद्यतष्टाप् ४।१।४ ( स्त्रियाम् ) इति टापि अनुबन्धलोपे दीर्घे ङ्याप्प्रातिपदिकादित्यधिकृत्य स्वाद्युत्पत्तौ अजा । एवम् एडका कोकिला इत्यादि । अदन्तेषु खट्वेत्यादि । अजादिशब्दानामदन्तत्वेऽपि 'वयसि प्रथमे' 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इत्यादिना वक्ष्यमाणस्य ङीपो ङीषश्च बाधनार्थमजादिषु पाठः । गन्तृप्रभृति ऋकारान्तात् दण्डिन् प्रभृति नकारान्ताच्च—

ऋन्नेभ्यो ङीप् ४ । १ । ५ ( स्त्रियाम् ) इति ङीपि अनुबन्धलोपे सन्धिकार्ये ङ्यन्तत्वात्सौ तल्लोपे सति गन्त्री कर्त्री दात्री धात्री इत्यादि दण्डिनी स्वामिनी मन्त्रिणी गुणिनी मालिनी राज्ञीत्यादि सिद्ध्यति । ऋदन्तेषु स्वस्रादिभ्यः नान्तेषु षट्संज्ञकेभ्यश्च ङीपः प्राप्तौ सत्याम्—

[4]न [1]षट्स्वस्रादिभ्यः ४ । १ । १० ( [2]स्त्रियाम् ङीप्टापौ[3] ) इति निषेधे यथावत्स्थितिः । स्वसा पञ्च सप्त इत्यादि "स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा । याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः ।" एवं नान्तेषु सीमन् प्रभृति शब्दात्—

मनः ४ । १ । ११ ( न ङीप् ) इति ङीप्निषेधे सीमा इत्यादि पुँल्लिङ्ग-सुनामन्शब्दवद्रूपम् , बहुयज्वन् शब्दस्य—

अनो बहुव्रीहेः ४ । १ । १२ ( न ङीप् ) इति ङीब् निषेधे बहुयज्वा इत्यादि आत्मशब्दवद्रूपम् ।

डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम् ४। १। १३ इति वैकल्पिके डापि टिलोपे स्वरयोगे बहुयज्वा शब्दस्य रमाशब्दवद्रूपम्। पक्षे पूर्वोक्तमेव। शत्रन्तशब्देभ्यस्तु भवत् प्रभृतिभ्यः—

उगितश्च। ४। १। ६। (ङीप् स्त्रियाम्) इति ङीपि अनुबन्धलोपे

[१]शप्श्यनोर्नित्यम्[२] । ७। १। ८१ ([५]शीनद्योर्नुम्[४] शतुः[२]) इति नुमि भवन्ती पचन्ती पश्यन्ती दीव्यन्तीत्यादि। नाभ्यस्ताच्छतुरिति नुम् निषेधे ददती जक्षती बिभ्रतीत्यादि। तुदत्प्रभृतिभ्यस्तु—

[१]आच्छीनद्योर्नुम्[३] ७। १। ८० (शतुः[२] वा[४]) इति वैकल्पिके नुमि तुदन्ती तुदती भान्ती भातीत्यादि। तथान्येऽपि रुन्धती तन्वती सुन्वतीत्यादि शत्रन्ता विदुषी श्रीमती श्रेयसीत्यादि तद्भिन्नोगिदन्ताः शब्दाः स्त्रीलिङ्गे ङीबन्ता ज्ञेयाः। पाचकादिभ्यः स्त्रीत्वविवक्षायां टापि।

प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः ७।३। ४४ इति कात्पूर्वस्याकारस्य इत्वे पाचिका, कारिका, सर्विकेत्यादिः। टिदादि-नदादिशब्देभ्यः स्त्रीत्वविवक्षायाम्—

[१]टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः ४। १। १५ ([२]स्त्रियां ङीप्[३]) इति ङीपि नदी वैनतेयी सौपर्णेयी ऐन्द्री, औत्सी, उरुद्वयसी, उरुदघ्नी, उरुमात्री, पञ्चतयी, आक्षिकी, लावणिकी, यादृशी इत्वरी जित्वरी नश्वरी सृत्वरी गत्वरी इत्यादि। त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी इति विग्रहे द्विगुसमासे त्रिलोकशब्दात्—

द्विगोः ४। १। २१ (स्त्रियां ङीप्) इति ङीपि (यस्येतिच) इति अकारलोपे त्रिलोकी एवं त्रिलिङ्गी इत्यादि। कुमारशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां टापि प्राप्ते—

वयसि प्रथमे। ४। १। २० (ङीप्) इति ङीपि कुमारीति ङ्यन्तात्सौ तल्लोपे कुमारी कल्माषशब्दात्—

अन्यतो ङीष् ४। १। ४० इति ङीषि कल्माषी। षिद्भ्यो गौरादिभ्यश्च स्त्रीत्वविवक्षायाम्—

षिद्गौरादिभ्यश्च ४। १। ४१ (स्त्रियां ङीष्) इति ङीषि अनुबन्धलोपे नर्तकी गौरीत्यादि। मृदुशब्दात्—

[4]वो[2]तो गुण[1]वचनात् ४। १। ४४ ([3]स्त्रियां [5]ङीष्) इति पाक्षिके ङीषि मृद्वी मृदुः। बहुशब्दात्—

[1]बह्वादिभ्यश्च ४।१।४५ ([2]स्त्रियां [3]ङीष् [4]वा) इति वैकल्पिके ङीषि बह्वी बहुःइत्यादि। गोपस्य स्त्रीत्यर्थे गोपशब्दात्—

पुंयोगादाख्यायाम् ४। १। ४८ (ङीष् स्त्रियाम्) इति ङीषि गोपीत्यादि। इन्द्रस्य स्त्री इत्यर्थे—

[1]इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्य्याणामानुक्[3] ४। १। ४९ ([2]स्त्रियां [4]ङीष्) इति ङीषि आनुगागमे च इन्द्राणी एवम् वरुणानी भवानी रुद्राणी मृडानी (हिमारण्ययोर्महत्त्वे) महद्धिमं हिमानी, महारण्यम् अरण्यानी (यवाद् दोषे) दुष्टो यवो यवानी (यवनाल्लिप्याम्) यवनानां लिपिर्यवनानी (मातुलोपाध्याययोरानुग्वा) मातुलानी मातुली उपाध्यायानी उपाध्यायी, (या तु स्वयमेवाध्यापिका तत्र वा ङीष्वाच्यः) उपाध्यायी उपाध्याया। (आचार्य्यादणत्वं च) आचार्य्यस्य स्त्री आचार्य्यानी। या तु स्वयमेव वेदमन्त्रव्याख्यात्री सा आचार्य्या। चन्द्रवत् मुखं यस्या इति बहुव्रीहिसमासे चन्द्रमुखशब्दात्—

स्वा[3]ङ्गाच्चो[2]पसर्जनादसंयोगोपधात्[1] ४। १। ५४ ([4]स्त्रियां

ङीष् [5]वा ) इति वैकल्पिके ङीषि चन्द्रमुखी चन्द्रमुखा सुकेशी सुकेशा इत्यादि ।

[2]न[1]क्रोडादिबह्वचश्च । ४ । १ । ५६ ([3]ङीष् [4]स्त्रियाम् ) कल्याण-क्रोडा । कुक्कुटत्वजातिविशिष्टा स्त्री कुक्कुटी इति विग्रहे कुक्कुटशब्दात्—

[3]जातेरस्त्रीवि[2]षयादयोप[1]धात् ४ । १ । ६३ ([4]ङीष् ) इति ङीषि अल्लोपे स्वरयोगे ङ्यन्तात् सुपि कुक्कुटी । आकृतिग्रहणाज्जातिः' शूकरी गर्दभी । लिङ्गानाञ्च न सर्वभाक् X सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या वृषली । गोत्रंच चरणैःसह । औपगवी कंठी बह्वृची । दक्षस्यापत्यं स्त्री इति विग्रहे— दक्षशब्दात्' अत इञ् इति इञि अलोपे इकारान्तात् दाक्षि शब्दात्—

[1]इतो मनुष्य[2]जातेः ४ । १ । ६५ ( [3]ङीष् स्त्रियाम्[4] ) इति ङीषि दाक्षी, एवं दाशरथी वैयासकीत्यादि । कुरुत्वजातिविशिष्टा स्त्री कुरूः इति विग्रहे कुरुशब्दात्—

[2]ऊङु[1]तः ४ । १ । ६६ ( स्त्रियाम्[3] ) इत्यूङि दीर्घे लिङ्गविशिष्टपरि-भाषया सौ रुत्वे विसर्गे कुरूः । वधूशब्दवद्रूपम् । एवं वामे ऊरू यस्याः सा इति विग्रहे बहुव्रीहौ वामोरुशब्दात्—

ऊरूत्तरपदादौपम्ये ४ । १ । ६९ ( ऊङ् स्त्रियाम् ) इत्यूङि दीर्घे सुपि वामोरूः । करभोरूः रम्भोरूः इत्यादि—

तद्धिताः ४ । १ । ७६ ( इत्यापञ्चमाध्यायमधिकारः ) युवन् शब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायाम्—

युनस्तिः ४ । १ । ७७ । ( स्त्रियाम् ) इति तिप्रत्यये नलोपे युवति शब्दात् लिङ्गविशिष्टपरिभाषया सुपि युवतिः युवती युवतय इत्यादि रुचि-वद्रूपम् । इति स्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ।

# अथ कारकप्रकरणम्

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २ । ३ । ४६ प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा यथा—रामः, ज्ञानम्, उच्चैः । लिङ्गमात्राधिक्ये तटः, तटी, तटम् । परिमाणमात्रे द्रोणो व्रीहिः । वचनमात्रे एकः । द्वौ । त्रयः ।

सम्बोधने च २ । ३ । ४७ । ( प्रथमा स्यात् ) हे प्रथमराष्ट्रपते राजेन्द्रप्रसाद !

कारके १ । ४ । २३ ( इतः १ । ४ । ५५ यावदधिकृत्य )

स्वतन्त्रः कर्ता १ । ४ । ४५ (क्रियायाम् ।) अभिहिते इति वक्तव्यमिति भाष्यवार्तिकबलात् कर्तृवाच्ये प्रयोगे उक्ते कर्तरि प्रथमा यथा—गान्धिमहात्मा जयति ।

कर्तुरीप्सिततमं कर्म १ । ४ । ४९ इति विद्यालयस्य कर्मसंज्ञायाम्

कर्मणि द्वितीया २।३।२ अनभिहिते २ । ३ । १ इति द्वितीया मालवीयमहामुनिर्हिन्दुविश्वविद्यालयं स्थापितवान् । एवं शिवप्रसादो विद्यापीठं प्रतिष्ठापितवान् । शिशुर्वन्दिकृष्णो दुग्धं पिबति । महात्मागान्धी भारतमातामन्दिरम् ( भारत-मातृ-मन्दिरम् ) उद्घाटितवान् ।

[२]अकथितञ्च १ । ४ । ५१ ( [१]अपादानादिभिः [३]कारकं कर्म[४] ) एतदेवाप्रधानं कर्मोच्यते ।

दुहिभ्र्षिः पृच्छति-याचिशास्तयो रुधिब्रुवी दण्डति-मन्थती पचिः ।
वदिर्जयिर्भिक्षिचिञौ च वृङ्वृञौ, कृषिर्वहिर्हृञ् नयती तु धातवः ।
द्विकर्मकास्सन्ति तदर्थकास्तथा विकल्पतस्स्युस्सकला विभक्तयः ।
अमुख्यगौणाकथितादिनामतः सदैव कर्मान्यदमीषु युज्यते ॥ (केशरी)

उपर्य्युक्तानां दुह्यादीनामूनविंशत्याः तत्समानार्थकानाञ्चान्येषां धातूनां प्रधानकर्मणा सार्धमन्यत् कर्म प्रयुज्यते, तदेवाकथितं गौणमप्रमुख्यं वा कर्मोच्यते। यथा—गोपो गां दोग्धि पयः। वामनो बलिम् याचते वसुधाम्। न्यायाधीशोऽपराधिनं दण्डयति शतम्। भक्तो देवं वृणुते वरम्। सूदस्तण्डुलान् पचति ओदनम्। कृष्णो व्रजमवरुणद्धि गाम्। पान्थो माणवकं पृच्छति पन्थानम्। स देवदत्तं मुष्णाति शतम्। मालवीयो विश्वविद्यालयं कर्षति वहति हरति नयति वा तदध्यापकान्। हरिः सुधां मथ्नाति क्षीरनिधिम्। मालाकारो वृक्षान् अवचिनोति पुष्पाणि। कालीप्रसादः शिष्यं ब्रूते शास्ति वदति वा धर्मम्। सुभाषः स्वतन्त्रतां जयति ब्रह्मदेशम्। एवम् बलिं भिक्षते वसुधाम्। आचार्यो महादेवशास्त्री पाण्डेयः शिष्यान् ब्रूतेऽभिधत्ते वक्ति वा धर्मम्, इत्यादि।

**उपान्वध्याङ्वसः** १।४।४८ (आधारः कर्म) उपवसति अनुवसति अधिवसति आवसति वा कारागारं सावरकरो वीरः।

उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु।
द्वितीयाऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते।

उभयतः, सर्वतः, उपर्य्युपरि, अधोऽधः, अध्यधि वा भूमिमद्यत्वे युद्धम्। (अभितः परितः समया निकषा हा प्रतियोगेऽपि।) यथा-अभितः परितः समया निकषा भारतं युद्धम्। हा आत्मविस्मरणमार्याणाम्। शठं प्रति शाठ्यं कुरु।

**अन्तरान्तरेण युक्ते** २।३।४ (द्वितीया) लोकमान्यतिलकमन्तरा स्वराज्यमन्त्रदः कोऽन्यः। न चमत्कारमन्तरेण नमस्कारः।

**कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे** २।३।५ (द्वितीया) मासमधीते

श्री शङ्करशुक्लः। क्रोश धान्यक्षेत्राणि सन्ति—

[1]अपवर्गे [2]तृतीया १।३।६ (अपवर्गः फलप्राप्तिरित्यर्थः) षण्मासेन पाणिनीयप्रबोधोऽधीतः। (अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम्।) कुरून् स्वपिति। मासमास्ते स्वतन्त्रतादिवसः। गोदोहमास्ते शुकमुनिः। क्रोशमास्ते गिरिः।

साधकतमं करणम् १।४।४२ (क्रियायाम्) इति करणसंज्ञायां कर्तृकरणयोस्तृतीया २।३।१८ (अनभिहिते) इति तृतीयायां भारतीयैरसहयोगेन स्वराज्यमुपलब्धम्। भारतीयैरित्यत्र तु स्वतन्त्रः कर्तेति कर्तृसंज्ञावगन्तव्या।

सहयुक्तेऽप्रधाने २।३।१९ (तृतीया) गुहेन सहितो रामो लक्ष्मणेन च सीतया।

येनाङ्गविकारः २।३।२० (ततस्तृतीया) अक्ष्णा काणः।

[2]षष्ठी हेतुप्रयोगे[1] २।३।२६ संस्कृतसाहित्यसम्मेलनस्य हेतोः श्रीकेदारनाथः सारस्वतः केन्द्रे वसति—

हेतौ २।३।२३ (अनभिहिते तृतीया,) तर्कुयन्त्रेणार्थिकस्वातन्त्र्यमिह भारते स्यादेव।

कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्, १।४।३२ (कारकम्,) इति विप्रस्य सम्प्रदानसंज्ञायाम्।

चतुर्थी सम्प्रदाने, २।३।१३ (अनभिहिते) इति चतुर्थी विप्राय गां ददाति,—

रुच्यर्थानां प्रीयमाणः, १।४।३३ (सम्प्रदानम्) इति सम्प्रदानसंज्ञायाम् रोचते सत्याग्रहिणे कारागारम्।

**धारेरुत्तमर्णः** १ । ४ । ३५ । ( सम्प्रदानम् ) इति सम्प्रदान संज्ञायाम् । महाजनाय रूप्यकशतं धारयति कृषकः ।

**स्पृहेरीप्सितः** १ । ४ । ३६ (सम्प्रदानम्) इति सम्प्रदानसंज्ञायाम् ।

गतास्ते दिवसा राजन् ! मुक्तानां जन्म शुक्तिषु ।
उदुम्बरफलायापि स्पृहयामोऽधुना वयम् ।

**क्रुधद्रुहेर्ष्याऽसूयार्थानां यं प्रति कोपः** १।४।३७। ( सम्प्रदानम् ) इति सम्प्रदानसंज्ञायाम् चतुर्थी—भारतद्रव्यलुण्ठकेभ्यो वैदेशिकेभ्यो नेतारः क्रुध्यन्ति, द्रुह्यन्ति, ईर्ष्यन्ति, असूयन्ति च ।

**नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च** २।३।१६। ( चतुर्थी ) भारतमात्रे नमः । प्रजाभ्यः स्वस्ति । अग्नये स्वाहा । पितृभ्यः स्वधा । अलमास्थास्वास्थ्ये विद्यायै ।

**मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु**, २ । ३ । १७ । ( चतुर्थी पक्षे द्वितीया च । ) सत्याग्रही कारागारं तृणाय मन्यते, तृणं वा ।

**ध्रुवमपायेऽपादानम्** १ । ४ । २४ । अपादाने पञ्चमी, २ । ३ । २८ । ( अनभिहिते । ) कारागारादायाति । प्रासादादवतरति । धावतोऽश्वात् पतति ।

**भीत्रार्थानां भयहेतुः**, १ । ४ । २५ । ( अपादानम् । ) इत्यपादानसंज्ञायां पञ्चमी मिथ्याचाराद् बिभेति । दम्भाद् उद्विजते । देशद्रोहिभ्योभारतं त्रायस्व । गोरण्डशासनाद् भारतं रक्ष ।

**वारणार्थानामीप्सितः** । १ । ४ । २७ । ( अपादानम् ) इत्यपादानसंज्ञायाम् पञ्चमी—कृषकेभ्यः शोषकवर्गान् वारयति राष्ट्रियमहासभाशासनम् ।

जनिकर्तुः प्रकृतिः, १।४।३० ( अपादानम् ) इत्यपादान-संज्ञायाम् पञ्चमी–ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते ।

पृथग् विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् । २। ३। ३। ( पञ्चमी ) मालवीयमहामुनेः पृथक् का विश्वविद्यालयशोभा पक्षे—मुनिना मुनिं वा पृथक् इत्यादि । एवं विना कमलापतिं कः संसारसम्पादकः । ( ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणेच ) सभामण्डपप्रकोष्ठात् प्रेक्षन्ते दर्शकाः । राजर्षिटण्डनो वेत्रासनात् नियन्त्रयति सभामण्डपसदस्यान् । सभामण्डप-प्रकोष्ठं प्रविश्य वेत्रासने उपविश्येत्यर्थः ।

अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते — २।३।२९। ( पञ्चमी ) अन्यो भिन्नोऽपरो वा पाणिनेर्न वैयाकरणः श्रेष्ठः । आराद् आचार्यबदरीनाथशिक्षासचिवगृहाद्विधानसभामण्डपम् । ऋते नेहरुं को गोरण्डनीतिमर्मवित् । पूर्वः श्रीबन्दिकृष्णाच्छ्रीकेशरिकृष्णः । प्राग् वाराण-सीतो विहारप्रदेशः । प्रत्यक्प्रयागात् पञ्चाम्बुदेशः । दक्षिणा गृहाद्भवत्य-वस्करालयः । दक्षिणा हि भारताल्लङ्काद्वीपम् ।

षष्ठी शेषे २।३।५० श्रीगौरीनाथपाठकस्य शारदाभवनम् । भगवद्दासस्य मानवधर्मसारः । कर्मादिष्वपि सम्बन्धविवक्षायां षष्ठी, यथा—सतां गतम् । नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः । नान्तकः सर्व-भूतानां न बुधा ज्ञानकर्मणोः ।

कर्तृ–कर्मणोः कृति २।३।६५। ( षष्ठी ) व्यासस्य कृतिः महाभारतम् । रामायणस्य कर्ता वाल्मीकिः । [ निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम् ] ( वार्तिकम् ) किं निमित्तम्, केन कस्मै, कस्मात्, कस्य कस्मिन् वा निमित्ते आगमनम् पञ्चाम्बुराज्यपालस्य श्री चन्द्रेश्वरनारायण-

सिंहस्य भिवान्याम्। एवम् को हेतुः किं कारणं किं प्रयोजनं केन निमित्तेनेत्यादिकं ज्ञेयम्।

**न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** २।३।६९। (योगे षष्ठी) कुर्वन् कुर्वाणो वा देशोद्धारं कांग्रेससदस्यः कारागृहं गच्छति। कारागृहावरुद्धं भगतसिंहं द्रष्टुं तन्माता शनौ प्रार्थनापत्रं प्रहिणोति। रूससैन्यघातुको हिटलरः। जयप्राणसाहाय्येन गोरण्डान् जित्वा भारतं स्वतन्त्रं कर्तुं सुभाषोद्योगः। जयप्राणो जितवान् ब्रह्मदेशम्। मद्रासराज्यपालेन श्रीश्रीप्रकाशेन जितं स्वदर्शनार्थिहृदयम्। ईषत्करः कलहो म्लेच्छैः। संयुक्तप्रान्ते प्रधानमन्त्रयिता गोविन्दवल्लभपन्तः।

**आधारोऽधिकरणम्**, १।४।४५। इत्यधिकरणसंज्ञायाम् **सप्तम्यधिकरणे च** २।३।३६। (चाद् दूरान्तिकार्थेभ्यः)

कटे ह्यास्ते कुमारोऽसौ वटे गावः सुशेरते।
तिलेषु विद्यते तैलं हृदि ब्रह्मामृतं परम्।

दूरेऽन्तिके वास्ति माधवश्रीहरिअणनिवासो विहार—सभाभण्डपात्—

**यस्य च भावेन भावलक्षणम्** २।३।३७। (तत्र सप्तमी।) गोषु दुह्यमानासु गतः। देवे वर्षत्यपि पर्यटन्ति रक्षिणः।

**षष्ठी चानादरे** २।३।३८ रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्। रुदन्तं पुत्रादिकमनादृत्य संन्यस्तवानित्यर्थः।

**यतश्च निर्धारणम्** २।३।४१। (तत्र षष्ठी सप्तमीच।) नृणां नृषु वा कर्तव्यपरायणो नरः श्रेष्ठः। गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा। गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः मन्त्रिणां मन्त्रिषु वा श्रीसम्पूर्णानन्दः पटीयान् यो हि शिक्षाविभागमर्थविभागञ्च साधु सञ्चालयति।

**कारकप्रकरणं समाप्तम्।**

# अथाऽव्ययीभावः

प्राक्कडारात्समासः २।१।३ इति समासाधिकारे समर्थः पदविधिः २।१।१ इति नियमेन समर्थाश्रित एव समासो भवति, पदविधित्वात्, तत्र प्रधानतया विभक्तिप्रभृत्यर्थेष्वव्ययीभावः समासो जायते। यथा च 'अधिहरि' इत्यत्र 'हरौ इति' इति लौकिके अस्व-पद-विग्रहे हरि ङि अधि सु इत्यलौकिके स्वपदविग्रहे—

अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासम्प्रतिशब्द-प्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्प्रतिसाकल्यान्तवचनेषु (२।१।६) (सहसुपा सुप् समस्यते) इत्यनेन सप्तमीविभक्त्यर्थे वर्तमानस्य'अधि' इत्यव्ययस्य हरिशब्देन सह समासे ततश्च—

प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् १।२।४३ इत्यनेन समास-सूत्रेण 'अव्ययम्' इत्यादौ सूत्रे प्रथमानिर्दिष्टस्य 'अधि' इत्यस्य उपसर्जन-संज्ञायाम्।

उपसर्जनम् पूर्वम् २।२।३० इति तस्य पूर्वनिपाते "सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः" इति सुपोलुकि 'अधिहरि' इत्यस्य समासत्वात् प्रातिपदक-संज्ञायाम् स्वाद्युत्पत्तौ 'अव्ययीभावश्च' इति अव्ययत्वात् सुपो लुकि 'अधिहरि' इत्येवम् सार्वविभक्तिकं रूपम्। समीपार्थे-गुरोः समीपे=उपगुरु इति अस्वपदलौकिकविग्रहे गुरु+ङस् उप+सु इत्यलौकिकस्वपदविग्रहे "अव्ययं विभक्ति" इत्यादिना समासे उपसर्जनसंज्ञायाम् पूर्वनिपाते सुपो लुकि उपगुरु इत्यादि। एवं सर्वेऽपि इकारान्तोकारान्ता अव्ययीभावसमा-सगाः शब्दा ज्ञेयाः। कृष्णस्य समीपम्=उपकृष्णम् इति लौकिके अस्वपद-

विग्रहे कृष्ण + ङस् उप+सु इत्यलौकिके स्वपदविग्रहे समीपार्थे उपेत्यव्ययस्य कृष्णेन सह समासे ततः समासकृत्ये च कृते उपकृष्ण इत्यस्य प्रातिपदिकत्वात्सौ विभक्तौ समागतायाम् उपकृष्ण+सु इत्यवस्थायाम् अव्ययत्वात् सुपो लुकि प्राप्ते—

[5]नाव्य[3]यीभावा[2]दतो[7]ऽम्त्वपञ्च[6]म्याः २।४।८३ (सुपो[2]लु[4]क्)

इति सोः अमादेशे अमि पूर्वरूपे 'उपकृष्णम्' तृतीयासप्तम्योस्तु—

तृतीयास[2]प्तम्योर्बहु[4]लम् २।४।८४ (अव्य[2]यीभावात् अतो[5] ऽम्[5]) इति बाहुल्यके अमि उपकृष्णम्। पक्षे उभयत्र उपकृष्णे इति। पञ्चम्यास्तु नित्यं विभक्तिकार्य्ये उपकृष्णात् (द्) इति ज्ञानशब्दवद्रूपम् द्विवचनबहुवचने तु न स्तः समीपार्थप्राधान्येन एकत्वार्थस्यौत्सर्गिकत्वात्। मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम् इति लौकिके अस्वपद-विग्रहे मक्षिका+आम निर+सु इत्यलौकिके स्वपदविग्रहे समासादिकार्य्ये निर्मक्षिका इत्यत्र 'मक्षिका' इत्येतन्मात्रस्य

[3]एकविभक्ति चा[2]पूर्वनिपाते १।२।४४ ([3]उपसर्जनम्) इत्युपसर्जनसंज्ञायाम्—

गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य १।२।४८ (ह्रस्वः) इति मक्षिकाकारस्य ह्रस्वे निर्मक्षिकशब्दस्य प्रातिपदिकत्वात्सौ अमादेशे निर्मक्षिकम् इत्यादि उपकृष्णवद्रूपाणि। विष्णोः पश्चात् अनुविष्णु इति लौकिकास्वपद विग्रहे विष्णु + ङस् अनु + सू इत्यलौकिकस्वपदविग्रहे पश्चादर्थे अनु- इत्यव्ययस्य विष्णुशब्देन समासे समासादि कार्य्ये अनुविष्णु इति सार्वविभक्तिकं रूपम्। (योग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्तिसादृश्यानि यथार्थाः) तत्र योग्यतार्थे रूपस्य योग्यम्=अनुरूपम्। पदार्थानतिवृत्तिरूपेऽर्थे-

शक्तिमनतिक्रम्य=यथाशक्ति। वीप्सार्थे गृहं गृहं प्रति=प्रतिगृहम्। शरदः समीपम् उपशरदम् इति लौकिकेऽस्वपदविग्रहे शरद्+ङस् उप+सु=इत्यलौकिके स्वपदविग्रहे समासादिकार्य्ये उपशरद् इति जाते—

अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ५।४।१०७ (टच्) इति टचि अनुबन्धलोपे दकारस्य स्वरसंयोगे उपशरद इत्यस्य समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां स्वाद्युत्पत्तौ 'उपशरदम्' इत्यादि। राज्ञः समीपम् उपराजम् इति लौकिकास्वपदविग्रहे राजन्+ङस् उप+सु इत्यलौकिके स्वपदविग्रहे समासादिकार्य्ये उपराजन् इत्यतः—

अनश्च ५।४।१०८ (अव्ययीभावे टच्) इति टचि—

[2]नस्तद्धिते[1] ६।४।१४४ ([3]भस्य [4]टेर्लोपः[5]) इति टिलोपे उपराज इत्यस्य प्रातिपदिकत्वात् सौ तस्यामादेशे उपराजम् इत्यादि। समिधः समीपम् इति लौकिकेऽस्वपदविग्रहे समिध्+ङस्+उप×सु इत्यलौकिके स्वपदविग्रहे समासादिकार्य्ये उपसमिध् इत्यतः—

झयः ५।४।१११ (अव्ययीभावे टच्) इति टचि अनुबन्धलोपे स्वरसंयोगे उपसमिध इत्यस्य प्रातिपदिकत्वात् स्वाद्युत्पत्तौ तस्यामि उपसमिधमित्यादि। इत्यव्ययीभावः।

## तत्पुरुष-समासः

तत्पुरुषः २।१।२२ (अधिकारोऽयं 'शेषो बहुव्रीहिः' इत्यतः प्राक्) कृष्णं श्रितः=कृष्णश्रित इति लौकिके विग्रहे कृष्ण अम् श्रित सु इत्यलौकिके विग्रहे—

द्वितीयाश्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः २।१।२४ इति समासे

६

सुपो लुकि द्वितीयान्तस्य कृष्णशब्दस्योपसर्जनसंज्ञायाम् पूर्वनिपाते कृष्णश्रित इत्यस्य समासत्वात् प्रातिपदिक-संज्ञायाम् स्वाद्युत्पत्तौ कृष्णश्रित इत्यादि रामवत्। हरिणा त्रातः इति लौकिकविग्रहे हरि टा त्रात सु इत्यलौकिक-विग्रहे—

[1]कर्तृ करणे [3]कृता [4]बहुलम् २।१।३२ ([2]तृतीया समस्यते) इति समासे सुपो लुकि समासत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायाम् स्वाद्युत्पत्तौ हरित्रातः इत्यादि। एवम् यूपाय दारु इति विग्रहे—

[1]चतुर्थी[3]तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः २।१।३६ (सुप्[2] सुपा[4] समस्यते) इति प्रकृतिविकृतिभावार्थकेन तदर्थेन दारुणा समासे तत्का-र्य्ये च कृते प्रातिपदिकत्वात्सुपि नपुंसकत्वात् तल्लुकि यूपदारु। (अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्) द्विजाय अयं द्विजार्थः सूपः। द्विजार्था यवागूः। द्विजार्थं पयः। भूतबलिः। जनहितम्। आत्मसुखम्। बालरक्षितम्। इत्यादि। युद्धात् भयम् इति विग्रहे—

[1]पञ्चमी [3]भयेन २।१।३७ ([2]सुप् सुपा[4] समस्यते[5]) इति समासे तत्कार्य्ये प्रातिपदिककार्य्ये च युद्धभयमित्यादि।

षष्ठी २।२।८ (सुप् सुपा समस्यते) राजपुरुषः, विद्यालयः, वेदाध्ययनमित्यादि। हृदयस्य लेख इति विग्रहे समासादिकृत्ये कृते—

हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु ६।३।५० इति हृदादेशे 'तोर्लि' इति परसवर्णे हृल्लेख इत्यस्य प्रातिपदिकत्वात् सौ हृल्लेखः, एवं हृल्लासः।

सप्तमी शौण्डैः २।१।४० (सुप् सुपा समस्यते) अक्षशौण्डः तर्कचतुरः, न्यायनिपुणः, व्याकरणवाग्मी। अत्र सर्वत्रैव सूत्रेषु द्वितीयादि-

पदानां योगविभागात् यथायोग्यं सर्वैरेव सुबन्तैर्द्वितीयादिसुबन्तानाम् समासो ज्ञेयः । यथा—खट्वामारूढः खट्वारूढ इत्यादि ।

## तत्पुरुषान्तर्गतः कर्मधारयः

अयं समासो हि तत्पुरुषस्यैवैको भेदोऽस्ति । तथाहि बालश्चासौ कृष्णः बालकृष्णः इति लौकिकविग्रहे बाल सु कृष्ण सु इत्यलौकिके विग्रहे—

विशेषणं[1] विशेष्येण[3] [5]बहुलम् २ । १ । ५७ ( सुप्[2] सुपा[4] समस्यते[6] ) इति समासे—

तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः १।२।४२ इति कर्मधारय-संज्ञायाम् सुपो लुकि समासतया प्रातिपदिकत्वात्सुपि बालकृष्णः, इत्यादि । रक्ता चासौ लता रक्तलता इति लौकिकविग्रहे रक्ता सु–लता सु इत्यलौकिक-विग्रहे समासे सुपो लुकि रक्तालता इति जाते तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः' इति कर्मधारयसंज्ञायाम् –

[4]पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु ६ । ३ । ४१ ( [2]अनूङ् [3]स्त्रियाः [1]भाषितपुंस्कात्) इति रक्तायाः पुंवद्भावे रक्तलतेत्यादि । एवम्—नीलञ्च तदुत्पलम्—नीलोत्पलम् इत्यादि ज्ञेयम् । सर्वेषामप्येषां द्विवचनादौ तु बालौ च तौ कृष्णौ बालकृष्णौ, बालाश्च ते कृष्णाः बालकृष्णाः । रक्ते च ते लते रक्तलते, रक्ताश्च ताः लताः रक्तलताः । नीले च ते उत्पले नीलोत्पले, नीलानि च तानि उत्पलानि नीलोत्पलानीत्यादीनि विग्रह-वाक्यानि ज्ञेयानि । घन इव श्यामः = घनश्यामः इति लौकिकविग्रहे घन सु–श्याम सु इत्यलौकिकविग्रहे—

उपमानानि सामान्यवचनैः २ । १ । ५५ ( सह समस्यन्ते )

इति समासे सुपो लुकि समाससूत्रे प्रथमानिर्दिष्टस्य घन इत्युपमानस्य उपसर्जनतया पूर्वनिपाते घनश्याम इत्यस्य समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायाम् स्वाद्युत्पत्तौ घनश्याम इत्यादि। नरः सिंह इव इति लौकिके नर सु इत्य-लौकिके विग्रहे—

उपमितं[१] व्याघ्रादिभिः[२] सामान्याप्रयोगे २।१।५६ (सह[३] [४]समस्यते) इति समासे सुपो लुकि उपमेयस्य प्रथमानिर्दिष्टस्योपसर्जन-संज्ञायाम् पूर्वनिपाते नरसिंह इत्यस्य समासत्वात् प्रातिपदिकतया सुपि नरसिंहः। एवम् पुरुषव्याघ्रः। नरपुङ्गवः, पुरुषर्षभः, इत्यादि। अयमुप-मितसमासो द्विधा दृश्यते, उपमामूलको रूपकमूलकश्चेति-तत्र रूपकमूलको यथा—मुखमेव चन्द्रः मुखचन्द्रः प्रकाशते। घनमेव बलम्=घनबलं मदयति। राहुरेव ग्रहः=राहुग्रहश्चन्द्रमाच्छादयति इत्यादि। उपमामूलकस्तु नरसिंहादावुक्त एव। मुखं चन्द्र इव इत्यादावपि स ज्ञेयः। सप्त च ते ऋषयः=सप्तर्षयः इति लौकिविग्रहे सप्त जस् ऋषि जस् इत्यलौकिक विग्रहे—

[१]दिक् संख्ये संज्ञायाम्[६] २।१।५० (समस्येते[५] सुबन्ते[२] सुपा[३] सह[४]) इति समासे सुपो लुकि सन्धौ सप्तर्षि इत्यस्य प्रातिपदिकत्वाज्जसि सप्तर्षयः, इति। पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवम् इति लौकिके विग्रहे पञ्च आम् गो आम् इत्यलौकिके विग्रहे—

[५]तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च २।१।५१ ([२]सुबन्ते [३]सुबन्तेन [४]सह [१]दिक् संख्ये [६]समस्येते) इति समासे सुपो लुकि पञ्चगो इत्यस्मात्—

[१]गोरतद्धितलुकि[२] ५।४।९२ (टच्[३] [३]तत्पुरुषात्) इति टचि अनुबन्धलोपे अवादेशे पञ्चगव इत्यत्र समासस्य—

संख्यापूर्वो[1] द्विगुः[2] २ । १ । ५२ इति द्विगु संज्ञायाम्,

[2]स नपुंसकम्[1] २ । ४ । १७ इति नपुंसकत्वविधाने—

द्विगुरेकवचनम् २।४।१ इति एकवद्भावे प्रातिपदिकत्वात्सौ तस्यामि पूर्वरूपे च पञ्चगवम् इति सिध्यति। (अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः) त्रिलोकी, त्रिलिङ्गी, त्रिफलेत्यादि (पात्राद्यन्तस्य न) पञ्चपात्रम्, त्रिभुवनमित्यादि। कुत्सितः पुरुषः कुपुरुषः इति लौकिके=कु सु—पुरुष सु इत्यलौकिके विग्रहे—

कुगतिप्रादयः[1] २ । २ । १८ (समस्यन्ते[2] सुपा[2]) इति समासे विभक्तेर्लुकि कुपुरुष इत्यस्य प्रातिपदिकत्वात्सौ कुपुरुषः। निश्चयेन चिन्त्वा इति निश्चित्य इति विग्रहे 'कुगतिप्रादयः' इति समासे—

[2]समासेऽनञ्पूर्वे[1] क्त्वो[3] ल्यप्[4] ७ । १ । ३७ इति क्त्वा प्रत्ययस्य ल्यबादेशे अनुबन्धलोपे निश्चित्य इत्यस्य प्रातिपादिकत्वात् सौ तस्य अव्ययत्वाल्लुकि निश्चित्य इति साधु। एवं सञ्चिन्त्य। सम्भूय। संस्कृत्येत्यादि। मालामतिक्रान्तः=अतिमाल इति लौकिके विग्रहे माला अम् अति सु इत्यलौकिके विग्रहे (अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया) इति वार्तिकबलात् अतिक्रान्तेऽर्थे 'कुगतिप्रादयः' इति समासे विभक्तेर्लुकि 'अति' इत्यस्योपसर्जनतया पूर्वनिपाते अतिमाला इति जाते तत्र 'माला' इत्यस्य—

'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' इति उपसर्जनसंज्ञायाम् 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वे अतिमाल इत्यस्मात् प्रातिपदिकतया सुपि रुत्वादिकार्ये अतिमालः, इत्यादि समन्वयम। शोभनश्चासौ राजा

सुराजा इति लौकिके विग्रहे सु सु राजन् सु इत्यलौकिके विग्रहे प्रादिसमासे सुपो लुकि सुराजन् इत्यतः—

[१]राजाहःसखिभ्य[३]ष्टच् ५।४।९१ ( [२]समासान्तः ) इति प्राप्तस्य टचः—

[३]न [१]पूजनात् ५।४।६९ ( [२]समासान्तः ) इति निषेधे सुराजन् शब्दस्य प्रादिपदिकतया सौ उपधादीर्घे सुलोपे च सुराजा इत्यादि। एवम् अतिराजा। स्वतिभ्यामेव समासान्तस्य निषेधात् महाराजः, तथाहि— महान् चासौ राजा महाराजः इति लौकिके महत् सु राजन् सु इत्यलौकिके विग्रहे विशेषणसमासे सुपो लुकि महत् राजन् इति स्थिते —

[२]आन्महतः[१] समानाधिकरणजातीययोः ६।३।४६। इति तकारस्याकारे दीर्घे महाराजन् इत्यतः टचि टिलोपादिकार्य्ये महाराजेति समासत्वेन प्रातिपदिकत्वात्। स्वाद्युत्पत्तौ रामवद् रूपसिद्धिः। एवम् महती चासौ नवमी महानवमी महाराशीत्यादि। समानाधिकरणादन्यत्र महतां वंशः महद्वंशः, महता कृतम् महत्कृतम् इत्यादि। विबुधानां सखा विबुधसखः, इत्यत्र षष्ठीतत्पुरुषसमासे 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टचि रामवद्रूपाणि। नञ् समासोऽपि तत्पुरुषभेदः। न ब्राह्मणः अब्राह्मणः इति विग्रहे—

[१]नञ् २।२।६ ( [२]सुपा [३]सह समस्यते ) इति समासे विभक्तेर्लुकि—

[२]नलोपो [१]नञः। ६।३।७३ इति नलोपे अब्राह्मण इत्यस्य समासतया प्रातिपदिकत्वात्सुपि रुत्वादिकार्य्ये अब्राह्मणः इत्यादि। न अश्वः अनश्वः इति विग्रहे नञ्समासे सुपो लुकि न लोपे अ अश्व इति जाते—

[1]तस्मान्नु[2]डचि[3] ६ । ३ । ७४ ( अचीति–उत्तरपदस्याजादेरित्यर्थः ) इति नुटि अनुबन्धलोपे स्वरसंयोगे अनश्व इत्यस्मात् प्रातिपदिकत्वात् सुपि अनश्वः इत्यादि एवम् अनीशः, अनर्घ्यः, अनर्हः, इत्यादि । मयूरश्चासौ व्यंसकः मयूरव्यंसक इति विग्रहे—

मयूरव्यंसकादयश्च २ । १ । ७२ इति निपातनात्समासे विभक्तेर्लुकि समासत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां स्वाद्युत्पत्तौ रूपसिद्धिः । एवम् उदक् चावाक् चोच्चावचम् । निश्चितञ्च प्रचितञ्चेति निश्चप्रचम् । इत्यादि ।

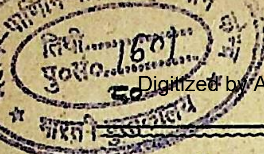
इति तत्पुरुषः ।

## अथ बहुव्रीहिः

शेषो बहुव्रीहिः २ । २ । २३ ( अधिकारः, चार्थे द्वन्द्वः २।२।२९। इति यावत् । प्राप्तम् उदकं यं स प्राप्तोदको ग्रामः, इति लौकिके विग्रहे प्राप्त सु उदक सु इत्यलौकिके विग्रहे—

[2]अनेकम[1]न्यपदार्थे २ । २ । २४ ( सुप्[3] सुपा[4] सह[5] समस्यमानम् [6]बहुव्रीहिः ) इति समासे जाते सुपो लुकि—

सप्तमीविशेषणे[2] बहुव्रीहौ[1] २ । २ । ३५ ( पूर्वम्[3] ) इति विशेषणस्य पूर्वनिपाते सन्धिकार्य्ये समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायाम् स्वाद्युत्पत्तौ प्राप्तोदकः, स्त्रीलिङ्गे प्राप्तोदका इत्यादि रूपम् विशेष्यानुसारं ज्ञेयम् । एवम् ऊढो रथो येन स ऊढरथोऽनड्वान् इत्यादि । उपहृतः पुरस्कारः यस्मै स उपहृतपुरस्कारः ( परीक्षोत्तीर्णः छात्रः ) उद्धृत ओदनो यस्याः सोद्धृतौदना ( उखा ) पीतम् अम्बरम् यस्य स पीताम्बरो (हरिः) इत्यादि ज्ञेयम् । वीरः पुरुषो यस्मिन् स वीरपुरुषकः (ग्रामः) इति लौकिक-






विग्रहे—वीर सु पुरुष सु इत्यलौकिके विग्रहे समासे सुपो लुकि वीरपुरुष इत्यस्मात्—

शेषा[1]द्विभाषा[4] ५ । ४ । १५४ ( [2]बहुव्रीहौ कप्[3] ) इति कप्प्रत्यये पकारस्येत्संज्ञालोपे समासत्वात् प्रादिपदिकसंज्ञायाम् स्याद्युत्पत्तौ वीरपुरुषकः । बह्व्यः कुमार्यः यस्मिन् सः बहुकुमारीकः (विद्यालयः) इति विग्रहे बहुव्रीहिसमासे कप् प्रत्यये समासत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां स्याद्युत्पत्तावुक्तरूपसिद्धिः । कण्ठे कालो यस्य सः कण्ठेकालः ( शिवः ) इति लौकिके विग्रहे समासे सुपो लुकि प्राप्ते—

[1]हलदन्ता[2]त्सप्तम्याः संज्ञायाम्[3] ६।३।९ (अलुक्[2] उत्तर[4]पदे) इति सप्तम्या अलुकि कण्ठेकालशब्दात् प्रातिपदिकतया स्याद्युत्पत्तौ कण्ठेकाल इत्यादि । चित्रा गावो यस्य स चित्रगुः इति लौकिके विग्रहे । चित्रा जस् गो जस् इत्यलौकिके विग्रहे समासे सुपो लुकि—

स्त्रियाः[2]पुंवद्भा[4]षित[1]पुंस्कादनुङ्[2] समानाधि[5]करणे स्त्रियाम[6]पूरणीप्रियादिषु[7] ६।३।३२ इति पूर्वपदस्य पुंवद्भावे गोशब्दस्य गोस्त्रियोरिति ह्रस्वे चित्रगुशब्दात् स्वाद्युत्पत्तौ चित्रगुरित्यादि भानुवद्रूपम् । पूर्वं कृतं येन सः कृतपूर्वः इति लौकिकविग्रहे पूर्व सु कृत सु इत्यलौकिकविग्रहे समासे सुपो लुकि—

निष्ठा २ । २ । ३६ । ( बहुव्रीहौ पूर्वम् ) इति कृतशब्दस्य पूर्वनिपाते कृतपूर्वशब्दात् सौ रूप-सिद्धिः । सीतया सह ससीत इति विग्रहे—

तेन सहेति तुल्ययोगे २ । २ । २८ ( बहुव्रीहिः ) इति समासे सुपो लुकि सहेत्यस्योपसर्जनतया पूर्वनिपाते सहसीता इत्यत्र—

वोपसर्जनस्य ६ । ३ । ८२। ( सहस्य सः ) इति सहस्य सादेशे सीताकारस्य 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वे ससीत इत्यस्मात् स्वाद्युत्पत्तौ ससीतः इत्यादि । केशेषु केशेषु गृहीत्वा स्थितयोः इदं युद्धं प्रवृत्तम् इति लौकिके विग्रहे केश सु केश सु इत्यलौकिकविग्रहे—

तत्र तेनेदमिति सरूपे २ । २ । २७ ( बहुव्रीहिः ) इति समासे सुपो लुकि केश-केश इत्यत्र—

अन्येषामपि दृश्यते ६ । ३ । । १३७ ( दीर्घः उत्तरपदे ) इति पूर्वकेशाकारस्य दीर्घे केशाकेश इत्यस्मात्—

[२]इच्[१]कर्मव्यतिहारे ५ । ४ । १२७ इति इचि, यस्येति चेति अकारलोपे केशाकेशि इत्यत्र इच् प्रत्ययस्य—

तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च २ । १ । १७ ( एतानि निपात्यन्ते ) इति तिष्ठद्गुप्रभृतिषु पाठात् अव्ययीभावत्वनिपातनेन अव्ययत्वे च कृते प्रातिपदिकतया स्वाद्युत्पत्तौ तस्य अव्ययत्वाद् लुकि केशाकेशि । एवम् दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्य स्थितयोः इदं युद्धं प्रवृत्तमिति विग्रहे दण्डादण्डि । मुसलामुसलि । इत्यादि । द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः इति लौकिकविग्रहे द्वि औ त्रि जस् इत्यलौकिकविग्रहे—

[३]संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिक-संख्याः[१] संख्येये[२] २ । २ । २५ ( [४]समस्यन्ते ) इति समासे सुपो लुकि द्वित्रि इत्यत्र—

[२]बहुव्रीहौ [१]संख्येये [४]डजबहुगणात्[३] ५ । ४ । ७३ । इति डचि डित्वाट्टिलोपे द्वित्र इत्यस्मात् स्वाद्युत्पत्तौ बहुत्वाद्बहुवचने द्वित्रा इत्यादि । एवं पञ्चषाः, उपपञ्चाः, अधिकषोडशाः, इत्यादि । इति बहुव्रीहिः ।

## अथ द्वन्द्वः—

रामश्च कृष्णश्च रामकृष्णौ—इति लौकिकविग्रहे राम सु कृष्ण सु इत्यलौकिकविग्रहे—

चार्थे[1] द्वन्द्वः[2] ( समासः ) २।२।२९ इति इतरेतरयोगसमासे सुपो लुकि रामकृष्ण इति स्थितौ समासत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां द्वित्वाद् द्विवचने उक्तरूपसिद्धिः। एवं बहुशब्दानां द्वन्द्वे धवखदिरपलाशाः। कुक्कुटश्च मयूरी चेति विग्रहे द्वन्द्वसमासे प्रातिपदिकत्वात्स्वाद्युत्पत्तौ विधीयमानायां समासावयवभूतपदयोर्भिन्नलिङ्गकत्वात् समस्तपदस्य पूर्वपदलिङ्गता उत्तरपदलिङ्गता वेति अवयवलिङ्गेन संशये समुपस्थिते—

[2]परवल्लिङ्गं[3] द्वन्द्वतत्पुरुषयोः[1] २।४।२६ इत्यनेनात्र परवल्लिङ्गेन स्त्रीलिङ्गे प्रातिपदिकत्वाद् द्वित्वविवक्षायाम् औविभक्तौ यणि कुक्कुटमयूर्यौ इमे, मयूरी च कुक्कुटश्चेति विग्रहे तु मयूरीकुक्कुटाविमौ। जाया च पतिश्चेति विग्रहे समासे सुपो लुकि ( जायाशब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च वा वक्तव्यः ) इतिवार्तिकात् जायाशब्दस्य वैकल्पिके जम्भावे दम्भावे च कृते प्रातिपदिकत्वात् द्विवचने औ विभक्तौ विभक्तिकार्य्ये जम्पती, दम्पती पक्षे जायापती इत्यादि। हरिश्च हरश्चेति विग्रहे समासे सुपो लुकि—

द्वन्द्वे घि २।२।३२(पूर्वम्) इति हरिशब्दस्य पूर्वनिपाते हरिहर इत्यस्मात् प्रातिपदिकत्वात्सुपि हरिहराविल्यादि। हरिश्च गुरुश्च हरश्चेति बहूनामितरेतरद्वन्द्व हरिगुरुहराः। समाहारद्वन्द्वे तु आहारश्च निद्राच भयञ्च मैथुनञ्च तेषां समाहार आहारनिद्राभयमैथुनम् इति विग्रहेण समाहारद्वन्द्वे सुपो लुकि 'स नपुंसकम्' इति नपुंसके समाहारत्वात्स्वाभाविके एकत्वे

स्वाद्युत्पत्तौ एकवचनरूपाणि । पाणी च पादौ च तयोः समाहारः पाणिपादम् इति विग्रहे समाहारद्वन्द्वे सुपो लुकि—

[२]द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य्यसेनाङ्गानाम्[१] २ । ४ । २ ( एकवत्[३] ) इति एकवद्भावे स्वाद्युत्पत्तौ पाणिपादम् इत्यादि । एवम् मार्दङ्गिकपाणविकम् । रथिकाश्वारोहम् । हंसी च हंसश्च हंसौ इति विग्रहे द्वन्द्वसमासे समासत्वात्प्रातिपदिकत्वे द्वित्वविवक्षायां स्वाद्युत्पत्तौ 'औ' विभक्तौ —

[३]पुमान् [२]स्त्रिया १।२।६७ ( [१]एकविभक्तौ [४]एकशेषः ) इति पुंसो हंसस्य एकशेषे हंसीत्यस्य च लोपे वृद्धौ रूपसिद्धिः । शुक्लश्च शुक्ला च शुक्लञ्चेति विग्रहे द्वन्द्वसमासे समासत्वात्प्रातिपदिकत्वे बहुत्वविवक्षायां स्वाद्युत्पत्तौ विधीयमानायां —

[२]नपुंसकम[१]नपुंसकेनैकव[४]च्चास्यामन्यतरस्याम्[५] १ । २ । ६९ ( [३]एकशेषः एकविभक्तौ[६] ) इति क्लीबस्यैकशेषे विकल्पेन एकवद्भावे च शुक्लं, पक्षे शुक्लानि । माता च पिता च पितरौ इति विग्रहे इतरेतरद्वन्द्वे सुपो लुकि समासत्वात्प्रातिपदिकत्वे स्वाद्युत्पत्तौ —

[२]पिता मात्रा[१] १ । २ । ७० ( [३]इति अन्यत[४]रस्याम् [५]एकशेषः ) इति पितुः एकशेषे गुणादिकार्ये पितरौ । मातृपितृ औ इति स्थितौ —

[३]आनङ् ऋतो[१] द्वन्द्वे[२] ६।३।२५ ( उत्तरपदे[४]) इति मातुः ऋकारस्य आनङि मातापितृ + औ इति जाते गुणादिकार्ये कृते मातापितरावित्यादि । स च देवदत्तश्च तौ इति विग्रहे द्वन्द्वसमासे समासत्वात्प्रातिपदिकत्वे स्वाद्युत्पत्तौ—

[२]त्यदादीनि [१]सर्वैर्नित्यम्[३] १ । २ । ७२ ( एकशेषः[४] ) इति तद एकशेषे त्यदादिकार्ये वृद्धौ रूपसिद्धिः । स च त्वञ्च अहञ्चेति

वयमिति विग्रहे स्वाद्युत्पत्तिपर्यन्तकार्ये कृते 'त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते' इति अस्मद एकशेषे रूपसिद्धिः। ईशश्च कृष्णश्च ईशकृष्णौ इति विग्रहे समासे सुपो लुकि—

[१]अजाद्यदन्तम्[२] २। २। ३३ (पूर्वम्[३]) इति ईशशब्दस्य पूर्वनिपाते द्विवचने औ विभक्तौ ईशकृष्णौ। शिवश्च केशवश्च शिवकेशवौ इति विग्रहे सुपो लुकि—

अल्पाच्तरम् २।२।३४ (पूर्वम्) इति शिवस्य पूर्वनिपाते द्विवचने औ विभक्तौ शिवकेशवावित्यादि द्वौ च दश च द्वादशेति विग्रहे द्वन्द्वसमासे सुपो लुकि—

[१]द्व्यष्टनः [२]संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः ६। ३। ४७ ([३]आत्) इति द्विशब्दस्येकारस्याकारे द्वादशन् शब्दाद्बहुवचने जसादिविभक्तौ द्वादशेत्यादि। एवम् अष्टौ च दश चाष्टादश। द्वौ च विंशतिश्च द्वाविंशतिः। अष्टाविंशतिः इत्यादि। त्रयश्च दश च त्रयोदशेति विग्रहे समासादिकार्ये—

त्रेस्त्रयः ६। ३। ४८ इति त्रेः त्रयस् इत्यादेशे सन्धिकार्य्ये त्रयोदशन् शब्दात् विभक्तिकार्य्ये त्रयोदशेत्यादि। एवम् त्रयोविंशतिः। त्रयस्त्रिंशद् इत्यादि। वाक् च त्वक् च तयोः समाहारः वाक्त्वचम् इति विग्रहे समाहारद्वन्द्वे सुपो लुकि—

द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे ५। ४। १०६ (टच्) इति समासान्ते टचि अनुबन्धलोपे स्वरसंयोगे च वाक्त्वचेत्यदन्तात्स्वादौ वाक्त्वचमित्यादि। एवम् छत्रश्चोपानहौ च तयोः समाहारः छत्रोपानहम्। शमीदृषदम् वाक्त्विषम्। समाहारे किम् प्रावृट्शरदौ। विष्णोः पुः

विष्णुपुरम् इत्यत्र समासादिकार्य्ये—

ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे ५ । ४ । ७४ इति 'अ' प्रत्यये कोशात् क्लीबत्वे प्रातिपदिकतया सुपि विष्णुपुरम् । विमला आपः यस्मिन् सरसि तद् विमलापं सरः । द्विर्गता आपो यस्मिन्निति विग्रहे बहुव्रीहौ अप्रत्यये—

द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् ६ । ३ । ९७ इत्यपोऽकारस्य ईत्वे सवर्णदीर्घे द्वीप इत्यस्य प्रातिपदिकत्वात् स्वाद्युत्पत्तौ द्वीपम् । एवमन्तरीपम् । प्रतीपम् । समीपम् । राज्ञो धूरिति विग्रहे तत्पुरुषे अप्रत्यये टापि राजधुरा राजपथः । रम्यपथो देश इत्यादि । इति द्वन्द्वप्रकरणम् ।

## तद्धिताः

समर्थानां प्रथमाद्वा ४ । १ । ८२ प्राग् दिशो विभक्तिः ५ । ३ । १ पर्यन्तमधिकारः । ( समर्थानां मध्ये प्रथमोच्चारितादित्यर्थः )—

तद्धिताः ४ । १ । ७६ आपञ्चमाध्यायमधिकारः ।

प्राग्दीव्यतोऽण् ४ । १ । ८३ ( अधिकारः ) अश्वपतेरपत्यमिति विग्रहे प्रथमोच्चारितात् अश्वपति शब्दात्—

अश्वपत्यादिभ्यश्च ४ । १ । ८४ ( अण् ) इत्यणि णकारस्येत्संज्ञालोपे—

[1]तद्धितेष्वचा[2]मादेः[3] ७ । २ । ११७ ( [4]वृद्धिः [5]ञ्णिति ) इति आदिवृद्धौ यस्येति चेति इकारलोपे हलस्तकारस्य स्वरयोगे आश्वपतशब्दात् 'कृतद्धित-समासाश्च' इति प्रातिपदिकतया स्वाद्युत्पत्तौ क्लीबे आश्वपतम् । दितेरपत्यं पुमानिति विग्रहे । दितिशब्दात्प्रथमोच्चारितात्—

दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः ४ । १ । ८५ ( प्राग्दीव्यतो-

येषु ) इति ण्यप्रत्यये अनुबन्धलोपे आदिवृद्धौ इकारलोपे तकारस्य यकारेण संयोगे दैत्यशब्दात् स्वाद्युत्पत्तौ दैत्यः इत्यादि । रघोरपत्यं पुमानि इति विग्रहे रघुशब्दात्—

तस्यापत्यम् ४ । १ । ९२ ( अण् ) इत्यणि आदिवृद्धौ राघु + अ इति जाते—

[१]ओर्गुणः[४] ६ । ४ । १४६ ( [२]भस्य तद्धिते[३] ) इति गुणे अवादेशे स्वादौ राघवः । दक्षस्यापत्यम् पुमान् इति विग्रहे दक्षशब्दात् —

[२]अत इञ्[४] ४ । १ । ९५ ( तस्[१]यापत्य[३]म् ) इति इञ्प्रत्यये आदि-वृद्धौ अकारलोपे स्वरसंयोगे सुपि दाक्षिः । एवम् दाशरथिः, द्रौणिः, शिवस्यापत्यम् पुमान् इति विग्रहे शिवशब्दात्—

शिवादि[२]भ्योऽण्[३] ४ । १ । ११२ ( तस्[१]यापत्यम् ) इत्यणि अनु-बन्धकार्य्ये सुपि शैवः । द्विमातुरपत्यम् इति विग्रहे द्विमातृ-शब्दात्—

[२]मातु[३]रुत्संख्यासम्भद्रपूर्वाया[१]: ४ । १ । ११५ ( [४]अपत्येऽण् ) इत्यणि ऋकारस्य च उकारे रपरे च कृते आदिवृद्धौ द्वैमातुरः, एवम् त्रैमातुरः । षाण्मातुरः । साम्मातुरः । भाद्रमातुरः । कन्याया अपत्यम् पुमान् इति विग्रहे कन्याशब्दात्—

[१]कन्यायाः कनी[२]न च ४ । १ । ११६ ( अ[३]पत्येऽण्[४] ) इत्यणि कनीनादेशे अनुबन्धकार्य्ये प्रातिपदिकत्वाच्च सुपि कानीनो व्यासः कर्णश्च । विनतायाः अपत्यम् पुमान् इति विग्रहे विनताशब्दात्—

स्त्रीभ्यो ढक् ४ । १ । १२० ( तस्यापत्यम् ) इति ढकि कस्येत्संज्ञा लोपे—

किति च ७ । २ । ११८ ( तद्धितेष्वचाम् आदेः वृद्धिः ) इति

आदि-वृद्धौ ढकारस्य च—

[1]आयनेयीनीयियः फढखछघां[2] प्रत्य[1]यादीनाम् ७। १। २ इति एयादेशे आकारलोपे प्रत्यययोगे सुपि वैनतेयः। एवं भागिनेयः, सौपर्णेयः, गाङ्गेयः, इत्यादि। पितृष्वसृ शब्दात्—

पितृष्वसुश्छण् ४। १। १३२ ( अपत्ये ) इति छणि णित्वाद् वृद्धौ छस्य ईयि यणि प्रातिपदिकत्वात् सुपि पैतृष्वस्रीयः।

ढकि[1] लोपः[2] ४। १। १३३ (२ पितृष्वसुः) इति ज्ञापकादेव ढकि अन्त्यलोपे च पैतृष्वसेयशब्दात् प्रातिपदिकत्वात्सौ पैतृष्वसेयः।

मातृ[1]ष्वसुश्च। ४। १। १३४ ( छण्[2] [3]ढकि लोपश्च[4] ) मातृष्वस्रीयः। मातृष्वसेयः। राज्ञोऽपत्यम् पुमान् इति विग्रहे राजन्—शब्दात्—

राजश्वशुराद्यत् ४। १। १३७ ( अपत्ये ) जातावेव वाच्यम् इति नियमात् यति—

ये चाभावकर्मणोः ६। ४। १६८ ( अन् प्रकृत्या ) इति प्रकृतिभावेन टिलोपनिषेधे राजन्यः। जात्यभावे तु अपत्येऽणि—

अन्[1] ६। ४। १६७ ( प्रकृ[2]त्या [3]अणि ) इति प्रकृतिभावेन टिलोपनिषेधे राजनः। श्वशुरस्यापत्यम् श्वशुर्यः।

क्षत्राद्घः ४। १। १३८ क्षत्रियः।

[1]कुलात्खः[2] ४। १। १३९ कुलीनः—

स्वसुश्छः ४। १। १४३ स्वस्रीयः।

भ्रातुर्व्यच्च ४। १। १४४। ( चाच्छः ) भ्रातृव्यः भ्रात्रीयः, कषायेण रक्तं वस्त्रमिति विग्रहे कषाय शब्दात्—

तेन रक्तं रागात् ४। २। १ ( अण् ) इत्यणि आदिवृद्धौ सुपि

काषायम्। पुष्येण युक्तमह इति विग्रहे पुष्यशब्दात्—

नक्षत्रेण[1] युक्तः[2] कालः[3] ४।२।३ (अण्[4]) इत्यणि। (तिष्य-पुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम्) इति यलोपे वृद्धौ सुपि पौषम्। तैषम्। टिड्ढेति ङीपि श्रावणी, प्रौष्ठपदी। पौषी पौर्णमासी अस्मिन्निति विग्रहे पौषी शब्दात्—

सास्मिन् पौर्णमासीति संज्ञायाम् ४।२।२१ (अण्) इत्यणि ईकारलोपे प्रातिपदिकत्वात्सौ पौषो मासः। एवम् माघः, फाल्गुनः, चैत्रः, वैशाखः ज्यैष्ठः, आषाढः, श्रावणः, आश्विनः इत्यादि। इन्द्रो देवता अस्येति विग्रहे इन्द्रशब्दात्—

[1]सास्य[2] देवता[3] ४।२।२४ (अण्[4]) इत्यणि अनुबन्धकार्ये सुपि ऐन्द्रम्, वारुणम्। पितुर्भ्राता पितृव्यः। मातुर्भ्राता मातुलः। मातुः पिता मातामहः। पितुः पिता पितामहः इत्याद्यर्थे। पितुर्व्यन् मातुर्डुलच् मातापित्रोर्डामहच् इत्येवमादिषु प्रत्ययेषु कृतेषु—

पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः ४।२।३६ इति पाणिनेरनुशासनबलात् सूत्रस्थपितृव्यादिशब्दा निपात्यन्ते। काकानां समूह इति विग्रहे काक-शब्दात्—

तस्य[1] समूहः[2] ४।२।३७ (अण्[3]) इत्यणि अलोपे सुपि काकम्। एवं बाकम्। मात्स्यम्। कापोतम् इत्यादि।

ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् ४।२।४३ ग्रामता, जनता, बन्धुता व्याकरणमधीते वेद वा इति विग्रहे व्याकरण-शब्दात्—

[1]तदधीते तद्वेद[2] ४।२।५७ [3]इत्यर्थे अण्) इति अणि आदि वृद्धौ प्राप्तायाम्—

[3]न य्वाभ्यां[2] पदान्ताभ्याम्[1] पूर्वौ[7] [5]तु [6]ताभ्यामैच्[8] ७।३।३ (वृद्धिः[4]) इति ऐकारागमे स्वाद्युत्पत्तौ वैयाकरणः। एवम् न्यायादिशब्देभ्यः।

क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक् ४। २। ६० इति उक्थादित्वात् ठकि—

ठस्येकः ७।३।५० इति ठस्य इकि, न य्वाभ्यामिति ऐजागमे नैयायिकः। पौराणिकः। ज्यौतिषिकः। ऐतहासिकः। क्रममधीते वेद वेति विग्रहे–

[1]क्रमादिभ्यो वुन्[2] ४। २। ६१ इति वुनि—

युवोरनाकौ ७। १। १ इति वोः अकादेशे अकारलोपे स्वरसंयोगे स्वाद्युत्पत्तौ क्रमकः। एवम् शिक्षकः, मीमांसकः। चक्षुषा गृह्यते इति विग्रहे चक्षुष् शब्दात्—

शेषे ४।२।९२ (अण्)। (अपत्यादिचतुरर्थ्यन्तादन्यः शेषस्तत्र यथाविहितम् अणादयः प्रत्ययाः स्यु) इत्यणि आदिवृद्धौ सुपि चाक्षुषम् (रूपम्) श्रावणः (शब्दः) औपनिषदः (पुरुषः) दृषदि पिष्टा दार्षदाः (सक्तवः) चतुर्भिरुह्यते चातुरं (शकटम्) चतुर्दश्याम् दृश्यते चातुर्दश (रक्षः) 'तस्य विकारः' इत्यतः प्राक् शेषाधिकारः। इह प्रकृतिविशेषाद् घादयः ट्यु टुलन्ताः प्रत्ययाः अर्थविशेषेषु उच्यन्ते। तत्र जातः। तत्र भवः। तत आगतः। सोऽस्य निवासः। तेन प्रोक्तम्। इत्यादयोऽर्थविशेषाः तत्र राष्ट्रे जातो भवो वा इति विग्रहे राष्ट्रशब्दात्—

राष्ट्रावारपाराद्घखौ ४। २। ९३ इति घ प्रत्यये घस्य इयि अलोपे स्वरसंयोगे सुपि राष्ट्रिय इत्यादि (अवारपाराद् विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम्) अवारीणः, पारीणः अवारपारीणः पारावारीण इति।

[1]ग्रामाद्यखञौ[2] ४। २। ९४ ग्राम्यः, ग्रामीणः। दक्षिणस्यां दिशि

जातः इति विग्रहे दक्षिणा-शब्दात्—

दक्षिणापश्चात् पुरस[1]स्त्यक्[2] ४ । २ । ९८ इति त्यकि आदिवृद्धौ सुपि दाक्षिणात्यः । एवं पाश्चात्यः, पौरस्त्यः, दिवि भवम् इति विग्रहे दिव्शब्दात्—

[1]द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्[2] ४ । २ । १०१ इति यति दिव्येति प्रातिपदिकात्स्वाद्युत्पत्तौ दिव्यम्, एवम् प्राच्यम्, अपाच्यम्, उदीच्यम्, प्रतीच्यम्, अमा सह भवति इति विग्रहे अमेत्यव्ययात्—

[1]अव्ययात्त्यप्[2] ४ । २ । १०४ इति त्यपि अनुबन्धलोपे सुपि अमात्यः । एवम् इहत्यः, क्वत्यः, कुत्रत्यः, कुतस्त्यः, ततस्त्यः, तत्रत्य इत्यादि 'त्यब्नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम्' नित्यः । शालायाम् भवः इति विग्रहे शालाशब्दस्य—

[3]वृद्धिर्यस्या[1]चामादि[2]स्त[4]द्वृद्धम्[1] १ । १ । ७३ इति वृद्धसंज्ञायाम्—

वृद्धा[1]च्छः[3] ४ । २ । ११४ ( जाताद्यर्थे[2] ) इति छे छस्य ईयि सुपि शालीयः । एवं मालीयः । तस्मिन् भवः तस्यायं वा इति विग्रहे तत्शब्दस्य—

त्यदा[1]दीनि च १ । १ । ७४ । ( वृद्धम्[2] ) इति वृद्ध संज्ञायाम् छप्रत्यये छस्य ईयि तदीयः । एवम् यदीयः, एतदीयः । भवतः अयम् इति विग्रहे भवच्छब्दात् षष्ठ्यन्तात्—

भवतष्ठक्छसौ ४।२।११५ ( वृद्धात् ) इति ठकि—

इसुसुक्तान्तात्कः ७ । ३ । ५१ (ठस्य) इति ठस्य ककारे किथ्वादादिवृद्धौ भावत्कः, छसि तु प्रत्यय कार्ये ईयि कृते—

सिति च १ । ४ । १६ (पदम्) इति पदत्वात् तकारस्य झलां जशोऽन्ते इति दकारे भवदीयः, एवं अदसीयः, इदमीयः, (वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या) रघुवरीयः, वङ्गीयः । युवयोर्युष्माकम् वा अयम् इति अर्थे युष्मद् शब्दात्—

[१]युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां[४] खञ्च[२] ४ । ३ । १ (चा[३]च्छः) इति खञि खस्य ईनादेशे युष्मद्+ईन इत्यत्र—

त[१]स्मिन्नणि[२] च[३] यु[४]ष्माकास्माकौ ४ । ३ । २ इति युष्माकादेशे आदिवृद्धौ आकार लोपे प्रत्यययोगे मूर्द्धन्यात्परस्य नस्य णत्वे सुपि यौष्माकीणः एवम् आस्माकीनः । अणि यौष्माकः, आस्माकः, छे युष्मदीयः, अस्मदीयः । तवायम्, ममायम् इत्यर्थे एकार्थकात् युष्मदस्मच्छब्दात् खञि अणि च—

तवकम[४]मकावेकव[५]चने ४।३।३ ([२]तस्मिन्न[३]णि युष्मदस्[१]मदोः) इति तवक-ममकादेशे आदि वृद्धौ सुपि तावकीनः । मामकीनः । तावकः, मामकः । छे तु तस्य ईयि—

[५]प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ७ । २ । ९८ (युष्मद[१]स्मदोर्म[२]पर्य्यन्तयोः त्व[३]मावेक[४]वचने) इति मपर्य्यन्तयोः त्वमादेशे सुपि त्वदीयः, मदीयः । मध्ये जात इत्यर्थे मध्यशब्दात्—

मध्यान्मः ४ । ३ । ८ इति म प्रत्यये प्रातिपदिकत्वात् सुपि मध्यमः । काले भवः जातो वेत्यर्थे कालशब्दात्—

कालाट्ठञ् ४ । ३ । ११ (कालवाचिनः) इति ठञि तस्य च ठस्येक इति इकादेशे अकारलोपे स्वरयोगे सुपि कालिकः । एवम् मासिकः वार्षिकः सांवत्सरिकः पौनःपुनिकः सायम्प्रातिकः । सायं जात इत्यर्थे—

सायं चिरं प्राह्णे प्रगेऽव्ययेभ्य[१]ष्ट्युट्युलौ[२] तुट्[४] च ४ । ३ । २३ ( [३]कालात् ) इति ट्यु प्रत्यये अनुबन्धलोपे युवोरनाकौ इति योरनादेशे तुडागमे च कृते सायन्तनम्। एवं चिरन्तनम्, प्राह्णेतनम्, सनातनम्, श्वस्तनम्, ह्यस्तनम्, पुरातनम्। टित्वात् स्त्रीलिङ्गे ङीपि अद्यतनी व्यवस्थेत्यादि। अध्यात्मम् भवः इत्यर्थे अध्यात्मशब्दात्—

तत्र भवः ४।३।५३ ( ठञ् ) ( तत्रेति सप्तमी समर्थात्। भव इह सत्तामात्रमिष्यते ) इति ठञि ठस्येकादेशे ञित्वादादिवृद्धौ अकारलोपे आध्यात्मिकम्। अधिदेवं भवम् इति विग्रहे ठञि ठस्येकादेशे आदि वृद्धौ प्राप्तायाम्—

[१]अनुशतिकादीनाञ्च ७।३।२० ( उभयपद[२]वृद्धिः ) इत्युभयपद-वृद्धौ आधिदैविकमित्यादि। एवम् आधिभौतिकम्, पारलौकिकम्। उपाध्यायस्यायम्, उपाध्याये भवः, उपाध्यायादागतो वा इत्याद्यर्थे—

तत आगतः ४ । ३ । ७३ ( इत्यधिकृत्य )

विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो वुञ् ४ । ३ । ७७ इति वुञि आदि वृद्धौ अनुबन्धलोपे वोरकादेशे औपाध्यायकः। पैतामहकः। होतुरागत इति विग्रहे—

ऋतष्ठञ् ४ । ३ । ७८ इति ठञि ञित्वादादिवृद्धौ ठस्य ककारे होतृकम्, एवं भ्रातृकम्, मातृकम्। पितुरागतम् इति विग्रहे पितृशब्दात्—

[१]पितु र्यच्च[२] ४ । ३ । ७९ ( चाठ्ठञ्[३] ) इति यति

रीङ्[२] ऋत[१]: ७ । ४ । २७ ( अकृत्सार्वधातुक[३]योः [४]यि च्वौ[५] ) इति ऋकारस्य रीङादेशे यस्येति चेति ईलोपे सुपि पित्र्यम्। पक्षे ठञि ञित्वाद् वृद्धौ ठस्य च इसुसुक्तान्तात् कः इति कादेशे पैतृकम्। मथुरा

निवासोऽस्य इति विग्रहे मथुराशब्दात्—

सोऽस्य निवासः ४ । ३ । ७९ इति अणि आदिवृद्धौ अलोपे प्रातिपदिककार्य्ये माथुरः । पाणिनिना प्रोक्तम् इत्यर्थे पाणिनि-शब्दात्—

तेन[१] [२]प्रोक्तम् ४ । ३ । १०१ ( [३]छः ) इति छ प्रत्यये छस्य ईयादेशे इकारलोपे सुपि पाणिनीयम् । हृदयस्य इदम् विकारो वा इति विग्रहे हृदय शब्दात्—

[१]तस्ये[२]दम् ४ । ३ । १२० ( [३]अण् )—

[१]तस्य विकारः[२] ४ । ३ । १३४ ( [३]अण् ) इति तत्तर्थेऽणि—

हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु ६ । ३ । ५ इति हृदादेशे आदि वृद्धौ हार्दम् । एवमेव भस्मनः इदं, विकारो वा इति विग्रहे अणि 'अन्' इति प्रकृतिभावे सुपि भास्मनम् । एवम् मार्तिकम् । पैप्पलम् ( चूर्णम् ) मौर्वः, पालाशः, खादिरः इत्यादि । अश्मनो विकार इत्यर्थे अश्मन् शब्दात्—

मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः ४ । ३ । १४३ इति मयटि अनुबन्धलोपे सुपि अश्ममयम् पक्षे आश्मनम् । भक्ष्ये मौद्गः ( सूपः ) आच्छादने कार्पासम् आच्छादनम् ।

गोश्च पुरीषे ४।३।१४४ ( मयट् ) गोः पुरीषं गोमयम् । गो विंकार इति विग्रहे गो शब्दात्—

गोपयसोर्यत् ४ । ३ । १६० इति यति अनुबन्धलोपे—

वान्तो यि प्रत्यये ६ । १ । ७६ इति अवादेशे गव्यम् द्रोर्विकार इति विग्रहे—

द्रोश्च ४ । ३ । १६१ इति यति वान्तादेशे द्रव्यम् अक्षैर्दीव्यति इति विग्रहे—

प्राग्वहतेष्ठक् ४ । ४ । १ ( इत्यधिकृत्य )

तेन दीव्यति खनति जयति जितम् ४ । ४ । २ ( ठक् ) इति ठकि तस्येकि प्रकृतिकार्य्ये आक्षिकशब्दात् सुपि आक्षिकम् । दध्ना संस्कृतम् इति विग्रहे दधिशब्दात्—

संस्कृ[२]तम् ४ । ४ । ३ ( [२]ठक् [१]तेन ) इति ठकि तस्येकि आदिवृद्धौ सुपि दाधिकम् । नावा तरति इति विग्रहे नौशब्दात्—

तरति ४ । ४ । ५ ( ठक् ) इति ठकि ठस्येकादेशे आवादेशे नाविकशब्दात् सुपि नाविकः । धर्म्मं चरति इति विग्रहे धर्मशब्दात्—

चरति ४ । ४ । ८ ( ठक् ) इति ठकि प्रत्यय कार्य्ये सुपि धार्मिकः । समाजं रक्षति इति विग्रहे समाज शब्दात्—

रक्षति ४ । ४ । ३३ ( ठक् ) इति ठकि ठस्येकि अलोपे सुपि सामाजिकः । अपूपाः पण्यमस्येति विग्रहे—

तदस्य पण्यम् ४ । ४ । ५१ ( ठक् ) इति ठकि आदिवृद्धौ इकादेशे सुपि आपूविक इति रूपसिद्धिः ।* मृदङ्गं शिल्पं यस्य इति विग्रहे मृदङ्गशब्दात्—

शिल्प[२]म् ४ । ४ । ५५ ( ठक्[२] तदस्य[१] ) इति ठकि इकादेशे आदिवृद्धौ सुपि मार्दङ्गिक इत्यादि । धनुःप्रहरणमस्येति विग्रहे धनुष्शब्दात्—

* मृदङ्गशब्दो लाक्षणिकः । मृदङ्गं = मृदङ्ग वादनम् ।

प्रह[२]रणम् ४ । ४ । ६७ ( [१]तदस्य ठक्[३] ) इति ठकि ठस्य 'इसुसुक्तान्तात्कः' इतिककारादेशे आदिवृद्धौ सुपि धानुष्कः ॥❀ अस्ति प्रेत आत्मा इति मतिर्यस्य इति विग्रहे अस्तिशब्दात्—

अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः[२] ४।४।६० ([१]तदस्य ठक्[३]) इति ठकि ठस्य इकि आदिवृद्धौ इलोपे सुपि आस्तिकः । एवम् नास्ति प्रेत आत्मा इति मतिर्यस्यासौ नास्तिकः । दिष्टम् इति मतिर्यस्यासौ दैष्टिकः । †अपूपं ( अपूप भक्षणं ) शीलमस्येति विग्रहे अपूप–शब्दात्—

[२]शीलम् ४।४।६१ ( [१]तदस्य ठक्[३] ) इति ठकि ठस्येकादेशे आदिवृद्धौ सुपि आपूपिकः । द्वारे नियुक्तः इति विग्रहे द्वार शब्दात्—

तत्र नियुक्तः ४ । ४ । ६९ ( ठक् ) इति ठकि तस्येकि ऐजागमे दौवारिकः । शरणे साधुः इति विग्रहे शरण-शब्दात्—

प्राग्घिताद्यत् ४ । ४ । ७५ (इति यतोऽधिकारः तस्मैहितम् ५।१।५ इति यावत्— )

तत्र साधुः ४ । ४ । ९८ ( यत् ) इति यति 'यस्येति' चेति अलोपे सुपि शरण्यः । एवम् सभ्यः, अग्र्यः, कर्मण्यः । साधुरिह योग्यः । वत्सेभ्यो हितम् इति विग्रहे वत्स शब्दात्—

प्राक्क्रीताच्छः ५।१।१ ( इति छाधिकारः तेन क्रीतम् ५।१।३७ इति यावत्— )

---

❀ येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः । ( कठ० )

† अपूपशब्दो लाक्षणिकः । अपूपम् अपूपभक्षणम् ।

तस्मै हितम् ५।१।५ ( छः ) इति छ प्रत्यये सुपो लुकि छस्य ईयादेशे अलोपे सुपि वत्सीयं दुग्धम् । दन्तेभ्यो हितम् इत्यर्थे दन्तशब्दात्—

[3]शरीरावयवाद्यत्[4] ५।१।६ ( [1]तस्मै हितम्[2] ) इति यति अलोपे प्रातिपदिकात् सुपि दन्त्यम् । एवं कण्ठ्यम् ओष्ठ्यम् , नासिकायै हितमित्यर्थे यति सुपो लुकि ( नस् नासिकायाः ) इति वार्तिकबलान्नसादेशे नस्यम् । हृदयाय हितमित्यर्थे हृदय शब्दात् यति हृदादेशे हृद्यम् । आत्मने हितमित्यर्थे आत्मन् शब्दात्—

[3]आत्मन् विश्वजन-भोगोत्तरपदात्खः ५।१।९ ( [1]तस्मै हितम्[2] ) इति खप्रत्यये खस्य ईनि—

[2]आत्माध्वानौ खे[1] ६।४।१६९ ( [3]प्रकृत्या ) इति प्रकृतिभावे सुपि आत्मनीनम् , विश्वजनीनम् , मातृभोगीनम् । पञ्च पादाः परिमाणमस्येत्यर्थे पञ्चन् शब्दात् —

पंक्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम् ५।१।५९ ( इमे निपात्यन्ते तदस्य परिमाणमित्यर्थे स्त्रीलिङ्ग एकत्वे च संख्या-संख्येय-वाचकाः ) इति निपातनात् ति प्रत्यये प्रकृतेष्टिलोपे चकारस्य कुत्वे अनुस्वारपरसवर्णयोः सुपि पङ्क्तिः ( पञ्चाक्षरा पञ्चपादा पंक्तिः इति छन्दसि । ) एवं द्वौ दशतौ परिमाणमस्य संघस्येति विग्रहे द्विदशत् शब्दात् शतिच् प्रत्यये अनुबन्धलोपे प्रकृतेर्विन्भावे अनुस्वारे सुपि विंशतिः इत्यादि ।

शीर्षच्छेदाद्यच्च ५।१।६५ ( इति यत्प्रत्ययमधिकृत्य ) दण्डम् अर्हति इति विग्रहे दण्ड—शब्दात्—

तदर्हति ५।१।६३ इत्यर्थाधिकारे—

दण्डादिभ्यः ५।१।६६ इति यति प्रकृतिकार्य्यें च दण्ड्य इत्यादि। ब्राह्मणेन तुल्यम् इत्यर्थे ब्राह्मणशब्दात्—

[१]तेन तुल्यं[२] क्रिया[४] [५]चेद्वतिः[३] ५।१।११५ इति वति प्रातिपतिकात्वादागतस्य सुपोऽव्ययत्वात् लुकि ब्राह्मणवत् वर्तते। पुत्रेण तुल्यं पुत्रवत् पश्यति च्छात्रम् इत्यादि। मथुरायामिवेति विग्रहे मथुराशब्दात् सप्तम्यन्तात्—

तत्र तस्येव ५।१ ११६ (वतिः) इति वति सुपो लुकि मथुरावदित्यस्य च तद्धितत्वात्प्रातिपदिकत्वे सुपि तस्य अव्ययत्वाल्लुकि मथुरावत् साकेते प्रासादः। कविराजस्य इवेति विग्रहे कविराजशब्दात् षष्ठ्यन्ताद् वति तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकत्वात् समागतस्य सुपोऽव्ययत्वाल्लुकि कविराजवत् शुक्लस्याध्यक्षत्वम्। गोर्भाव इति विग्रहे गोशब्दात्—

तस्य भावस्त्वतलौ ५।१।११९ इति त्वे गोत्वेति प्रातिप्रदिकतः सुपि नपुंसकत्वे गोत्वमित्यादि। तलि स्त्रीत्वे गोता इत्यादि। एवम् घटत्वं घटता, लघुत्वं लघुता, पटुत्वं पटुता इत्यादि। पृथोर्भावः इति विग्रहे पृथु शब्दात्—

[१]पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा[२] ५।१।१२२ ( वावचनम् अणाद्यर्थम् ) इति इमनिचि—

[४]र ऋतो[३] हला[१]देर्लघोः[२] ६।४।१६१ ( इष्ठेमेयस्सु[५] ) ( पृथु मृदु भृश कृश दृढ परिवृढानामेव रत्वम् ) इति ऋकारस्य रकारादेशो प्रथु + इमन् इति स्थिते—

[२]टेः ६।४।१५५ ( [१]लोपः इष्ठेमेयस्सु[३] ) इति टिलोपे प्रथिमन् शब्दात् प्रातिपदिकतया स्वाद्युत्पत्तौ प्रथिमा, म्रदिमा, भ्रशिमा, क्रशिमा,

द्रढिमा, परिव्रढिमेति। अणि पार्थवम्। मार्दवम् इत्यादि। तलि पृथुता मृदुता त्वे च पृथुत्वम् मृदुत्वमित्यादि। शुक्लस्य भावः इति विग्रहे शुक्ल शब्दात्—

**वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च ५।१।१२३** ( चादिमनिच् ) इति ष्यञि अनुबन्धलोपे ञित्त्वादादिवृद्धौ यस्येति चेति अल्लोपे शौक्ल्य शब्दात् सुपि शौक्ल्यम् पक्षे शुक्लिमा शुक्लता शुक्लत्वम्। एवम् दार्ढ्यम् द्रढिमा दृढता दृढत्वम्। जडस्य भावः कर्म वा इति विग्रहे—

**गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ५।१।१२४** ( ष्यञ् चाद्‌-भावे ) इति ष्यञि अनुबन्धलोपे आदिवृद्धौ प्रातिपदिकत्वात् सुपि जाड्यम्। एवं मौढ्यम् ब्राह्मण्यम्। षो ङीषर्थः। उचितस्य भावः इति विग्रहे उचित शब्दात् ष्यञि आदिवृद्धौ अलोपे च कृते औचित्य इति जाते 'षिद् गौरादिभ्यो ङीष्' इति ङीषि—

**हलस्तद्धितस्य ६।४।१५०** ( यलोप ईति ) इति यलोपे औचिती। एवम् यथाकामो 'अर्हतो नुम् च' इति नुमि आर्हन्ती। सख्युर्भावः कर्म वा इति विग्रहे सखि शब्दात्—

**सख्युर्यः ५।१।१२६** इति यप्रत्यये इकारलोपे सुपि सख्यम्। सेना-पतेर्भावः कर्म वा इति विग्रहे—

**पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ५।१।१२८** इति यकि आदिवृद्धौ सुपि सैनापत्यम्। एवं पौरोहित्यम्। तारकाः सञ्जाता अस्येति विग्रहे तारका शब्दात्—

**तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् ५।२।३६** इति इतचि आका-रलोपे सुपि तारकितम्। एवम् ... बुद्धिः सञ्जाता

अस्येति पण्डितः । हस्तः प्रमाणमस्येति विग्रहे हस्त शब्दात्—

प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः ५।२।३७ इति मात्रचि अनुबन्धलोपे सुपि हस्तमात्रम् । एवम् जानुदघ्नम् । यत् परिमाणमस्य इति विग्रहे यत् शब्दात्—

यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् ५।२।३९ इति वतुपि अनुबन्धलोपे यद् + वत् इत्यत्र—

[2]आ सर्वनाम्नः[1] ६।३।९१ ( [3]दृग्दृश्वतुषु ) इति आकारान्तादेशे यावत् शब्दात् सौ नुमादिकार्ये यावान् । एतावान् । स्त्रीलिङ्गे यावती एतावतीत्यादि । इदं परिमाणम् अस्येति विग्रहे इदम् शब्दात्—

[1]किमिदंभ्यां [3]वो [4]घः ५।२।४० ( [2]वतुप् ) इति वतुपि अनुबन्ध-लोपे वकारस्य च घकारे तस्य इयादेशे इदम् + इयत् इति जाते—

[1]इदं किमोरीश्की[2] ६।३।९० ( [3]दृग्दृश्वतुषु ) इति शित्वात् सर्वस्यैव इदमः ईशादेशे अनुबन्धलोपे यस्येति चेति ईकारलोपे केवल प्रत्ययमात्रात् इयत् शब्दात् व्यपदेशिवद्भावमादाय प्रातिपदिकतया सुपि इयान् । स्त्रीलिंगे इयती । का संख्या एषां ते कति इति विग्रहे किम् शब्दात्—

किमः संख्यापरिमाणे डति च ५।२।४१ ( चाद्वतुप् ) इति डति टिलोपे कतिशब्दात् जसि तल्लुकि कति इत्यादि । किं परिमाणमस्येति विग्रहे वतुपि वस्य घकारे तस्येयादेशे किमः 'कि' इत्यादेशे इकार लोपे कियत् शब्दात् सुपि कियान् इत्यादि । पञ्च अवयवा अस्येति विग्रहे पञ्चन् शब्दात्—

संख्याया अवयवे तयप् ५ । २ । ४२ इति तयपि न लोपे सुपि पञ्चतयम् । चतुष्टयम् । द्वौ अवयवौ अस्येत्यर्थे द्विशब्दात्—तयपि तस्य च—

द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा ५ । २ । ४३ इति अयजादेशे अनुबन्ध-लोपे इकारलोपे स्वर-संयोगे सुपि द्वयम् । पक्षे द्वितयम् । त्रयम् त्रितयम् ।

एकादशानां पूरणः इतिविग्रहे एकादशन् शब्दात्—

तस्य पूरणे डट् ( ५ । २ । ४८ ) इति डटि डित्वाट्टिलोपे सुपि एकादशः । स्त्रीलिंगे एकादशी । पञ्चानाम् पूरणं इत्यर्थे पञ्चन् शब्दात् डटि

[2]नान्ता[1]दसंख्यादेर्मट्[4] ५ । २ । ४९ ([3]डटः) इतिडटो मडादेशे नलोपे प्रातिपदिकात् पञ्चमशब्दात् सुपि पञ्चमः । एवं सप्तमः । अष्टमः इत्यादि । चतुर्णां पूरण इत्यर्थे चतुर् शब्दात् डटि अनुबन्धलोपे चतुर् + अ इत्यत्र—

[1]षट्कतिकतिपयचतुरां [3]थुक् ५।२।५१ ( डटि[2] ) इति चतुरः थुगागमे अनुबन्धलोपे सुपि चतुर्थः । एवं कतिथः । ष्टुत्वे षष्ठः । द्वयोः पूरणमित्यर्थे द्वि शब्दात्—

द्वेस्तीयः ५ । २ । ५४ ( तस्य पूरणे ) इति तीयप्रत्यये सुपि द्वितीयम् स्त्रीलिंगे द्वितीया एवम्—

त्रेः[1] सम्प्रसारणं[4] च ५ । २ । ५५ ( [2]तीयः तस्य पूरणे[3] ) इति त्रिशब्दस्य तीयप्रत्यये सम्प्रसारणे च तृतीयः । विंशतेः पूरण इत्यर्थे विंशति शब्दात्—

विंशत्यादिभ्यः तमडन्यतरस्याम् ५ । २ । ५६ इति तमटि प्रातिपदिकात् सुपि विंशतितमः । पक्षे डटि सुपो लुकि—

तिविंशतेर्डिति ६ । ४ । १४२ ( लोपः भस्य ) इति भस्य तिशब्दस्य लोपे यस्येति चेति अलोपे सुपि विंशः । एवम् त्रिंशत्तमः । डटि

टिलोपे त्रिंशः । चत्वारिंशः इत्यादि । गावोऽस्यास्मिन् वा सन्तीति विग्रहे गो शब्दात्—

तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ५।२।९४ इति मतुपि अनुबन्धलोपे स्वादौ गोमान् । स्त्रीलिंगे गोमती । धीमान् । धीमतीत्यादि ।

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
सम्बधेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥

भूमा बहुत्वम् यथा गोमान् । यवमान् इत्यादि । निन्दायाम् हनुमान् इत्यादि । प्रशंसायाम् रूपवान् । प्रशस्ता विद्या अस्ति अस्यासौ विद्यावान् इति विग्रहे विद्या शब्दात् मतुपि अनुबन्धलोपे—

मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ८ । २ । ९ इति मस्य वकारे सुपि विद्यावान्, किंवान्, लक्ष्मीवान्, यशस्वान्, तडिदस्यास्ति इति विग्रहे मतुपि अनुबन्धलोपे—

झयः ८ । २ । १० ( मतोर्वः ) इति मस्य वकारे—

तसौ मत्वर्थे १ । ४ । १९ ( भम् ) इति भ संज्ञायाम् जश्त्वाभावे तडित्वान्, विद्युत्वान् इत्यादि दण्डोऽस्यास्तीति विग्रहे दण्डशब्दात्—

अत इनिठनौ ५।२।११५ इति इनि प्रत्यये अलोपे दण्डिन् शब्दात् प्रातिपदिकात् सुपि दण्डी । ठनि ठस्येकि दण्डिकः । एवं धनी, धनिकः इत्यादि । प्रशस्तं यशोऽस्यास्तीति विग्रहे 'यशस्' शब्दात्—

अस्मायामेधास्रजोविनिः ५ । २ । १२१ मत्वर्थे विनि प्रत्यये अनुबन्धलोपे यशस्विन्निति प्रातिपदिकात्स्वादौ यशस्वीत्यादि । प्रशस्ता वाक् अस्यास्तीति विग्रहे वाच् शब्दात्—

वाचो ग्मिनिः ५ । २ । १२४ इति ग्मिनि प्रत्यये अनुबन्धलोपे

कुत्वे जश्त्वे सुपि वाग्मी । स्त्रीलिङ्गे वाग्मिनी । अर्शांसि अस्य विद्यन्ते इति विग्रहे—

अर्श[६] आदिभ्यो[७]ऽच् ५ । २ । १२७ ( [१]तद[२]स्या[३]स्त्य[४]स्मिन्नि[५]ति ) इति अचि सुपि अर्शस इति रूपसिद्धिः । आकृतिगणोऽयम् । कस्मादिति विग्रहे किम् शब्दात् पञ्चम्यन्तात्—

किंसर्वनामबहुभ्योऽ[१]द्व्यादिभ्यः[२] ५ । ३ । २ ( [३]प्राग्दिशः [४]प्रत्ययाः ) इत्यधिकारात्—

पञ्चम्यास्तसिल् ५ । ३ । ७ इति तसिल् प्रत्यये तद्धितत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सुपोधातुप्रातिपदिकयोरिति सुपो लुकि—

प्राग्दिशो विभक्तिः ५ । ३ । १ इति तसिलो विभक्तिसंज्ञायाम्—

[२]कु [३]तिहोः ७ । ४ । १० ( [१]किमः ) इति कादेशे कुतः शब्दात् सुपि 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इति अव्ययात् सुपो लुकि कुतः । अस्मादिति विग्रहे पञ्चम्यन्तात् इदम्शब्दात् तसिलि सुपो लुकि—

[१]इदम [२]इश् ५ । ३ । ३ ( [३]प्राग्दिशीयेषु ) इति इशादेशे अनुबन्धलोपे इतस् शब्दात् सुपि तस्याव्ययत्वाल्लुकि इतः । एवम् एतद् शब्दात् तसिलि—

एतदोऽन् ५ । ३ । ५ ( प्राग्दिशीये ) अतः । एवम् तस्मादिति विग्रहे तसिलि सुपो लुकि त्यदाद्यत्वे ततस् शब्दात् सुपि तस्य लुकि ततः । एवं, यतः, अदसः तसिलि त्यदादिकार्ये, **अदसोऽसेर्दादुदोम** इति मत्वोत्वे अमुतः, सर्वतः, विश्वतः, इत्यादि ।

पर्य्यभिभ्यांच ५ । ३ । ९ ( तसिल् ) परितः ( सर्वतः ) अभितः ( उभयतः ) तस्मिन्निति विग्रहे सप्तम्यन्तात् तद् शब्दात्—

सप्तम्यास्त्रल् ५ । ३ । १० ( किंसर्वनामबहु० ) इति त्रलि सुपो लुकि त्रलो विभक्तिसंज्ञायाम् "त्यदादीनामः' इति अत्वे पररूपे सुपि लुकि तत्र यत्र कुत्र बहुत्र एवम् एतस्मिन्निति विग्रहे त्रलि, एतदोऽनि, अनुबन्धलोपे अत्र । अस्मिन्निति विग्रहे—

इदमो[1] हः[2] ५ । ३ । ११ ( सप्तम्याः[3] प्राग्दिशीये[4] ) इति ह प्रत्यये 'इदम इश्' इति इशादेशे अनुबन्धलोपे इहशब्दात् सुपि तस्य लुकि इह । कस्मिन्निति विग्रहे सप्तम्यन्तात् किम्शब्दात्—

किमोऽत्[1] ५ । ३ ।१२ ( [2]सप्तम्याः ) इति अति सुपो लुकि—

[2]क्वाति[3] ७ । २ । १०५ ( किमः[1] ) इति क्वादेशे यस्येतिचेति अलोपे सुपि तस्य लुकि क्व पक्षे त्रलि कु तिहोः इति क्वादेशे कुत्र ।

इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते ५ । ३ । १४ ( तसिलादयः ) दृशि ग्रहणाद्भवदादियोगे एव । स भवानिति वक्तव्ये ततो भवान् इति । तं भवन्तमिति वक्तव्ये ततो भवन्तं तत्र भवन्तम् इत्यादि । सर्वस्मिन् काले इति विग्रहे सप्तम्यन्तात् सर्व शब्दात्—

[2]सर्वैकान्यकिंयत्तदः [3]काले दा[4] ५ । ३ । १५ ( [1]सप्तम्याः ) इति दाप्रत्यये सुपो लुकि—

[1]सर्वस्य [2]सोऽन्यतरस्यां[4] दि[3] ५ । ३ । ६ (प्राग्दिशीयेषु[5]) इति सादेशे अव्ययत्वात्सुपो लुकि सदा । पक्षे सर्वदा । एवम् एकदा, अन्यदा यदा, तदा 'किमः कः' इति कादेशे कदा । काले किम् सर्वत्र देशे । अस्मिन् काले इति विग्रहे सप्तम्यन्तात् इदम् शब्दात्—

[2]इदमोर्हिल्[4] ५।३।१६ ([1]सप्तम्याः [3]काले) इति र्हिलि सुपो लुकि—

[2]एतेतौ रथोः[3] ५ । ३ । ४ ( [1]इदमः प्राग्दिशीयेषु[4] ) इति एतादेशे

सुपि तस्य लुकि एतर्हि । काले किम् इह देशे । अस्मिन् काले इति विग्रहे सप्तम्यन्तात् इदम् शब्दात्—

[4]अधुना ५ । ३ । १७ ( [2]इदमः सप्तम्याः[1], [3]काले ) इति अधुना प्रत्यये 'इदम इश्' इति शित्वात् सर्वस्य इदम इशादेशे इ + अधुना इत्यत्र यस्येतिचेति इलोपे केवलात् अधुनेति प्रत्ययमात्रात् व्यपदेशिवद्भाव-मादाय प्रातिपदिकत्वात् सुपि तस्य लुकि* अधुना । कस्मिन् काले इति विग्रहे किम् शब्दात् सप्तम्यन्तात् —

[5]अनद्यतने [4]र्हिलन्यतरस्याम्[6] ५ । ३ । २१ ( [1]सप्तम्याः [2]किं सर्वनामबहुभ्यः काले[3] ) इति र्हिलि तस्य विभक्तित्वात् 'किमः कः' इति कादेशे कर्हि, यर्हि, तर्हि । एतस्मिन्निति विग्रहे एतर्हि त्यदाद्यत्वे रूपम् । समाने अहनि इत्यर्थे—

[5]सद्यःपरुत्परार्यैषमःपरेद्यव्यद्यपूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरितरेद्युर-परेद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः ५ । ३ । २२ ( निपात्यन्ते अव्ययानि ) इति समानस्य सादेशे द्यस् प्रत्यये च कृते सद्य इति रूपं [illegible]पद्यते । एवं पूर्वस्मिन् वर्षे इत्यर्थे पूर्वशब्दस्य परादेशे उत् प्रत्यये च परुदिति निष्पन्नं भवति । पूर्वतरस्मिन् वर्षे इत्यर्थे पूर्वतरशब्दस्य परादेशे आरि प्रत्यये च कृते परारि इति सम्पद्यते । अस्मिन् वर्षे इत्यर्थे इदम इशादेशे समसण्

( * ) उदितवति परस्मिन् प्रत्यये शास्त्र-योनौ
गतवति विलयञ्च प्राकृतेऽपि प्रपञ्चे ।
सपदि पदमुदीतं केवलः प्रत्ययो यत्
तदियदिति मिमीते कोऽधुना पण्डितोऽपि ॥

प्रत्यये अनुबन्धलोपे इसमस् इति जाते णित्वादादिवृद्धौ मूर्धन्यादेशे रुत्वविसर्गौ ऐषमः इति सिध्यति । परस्मिन् अहनि इत्यर्थे परशब्दात् 'एद्यवि' प्रत्यये परेद्यवि इति जायते । अस्मिन् अहनि इत्यर्थे इदमः अशादेशे 'द्य' प्रत्यये अद्य इति सिद्ध्यति । एवमेवावशिष्टेषु पूर्वेद्युप्रभृतिशब्देषु पूर्वादिशब्देभ्यः 'एद्युस्' प्रत्यये कृते पूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरित्याद्यव्ययशब्दसिद्धिः । तेन प्रकारेण इति विग्रहे तृतीयान्तात् तत् शब्दात्—

प्रकारवचने[1] [2]थाल् ५ । ३ । २३ ([2]किमादिभ्यः) इति थालि सुपो लुकि त्यदाद्यत्वे तथेति प्रातिपदिकात् सुपि तस्य अव्ययत्वात् लुकि तथा । एवम् यथा, सर्वथा, उभयथा । अनेन प्रकारेण इति विग्रहे इदमः तृतीयान्तात्—

इदम[1]स्थ[2]मुः ५ । ३ । २४ (प्रका[2]रवचने) इति थमु प्रत्यये अनुबन्धलोपे 'एतेतौ रथोः' इति इदमः इदादेशे सुपि तस्य लुकि इत्थम् । एवम् तृतीयान्तात् किम्शब्दात्—

किम[2]श्च ५ । ३ । २५ ([1]प्रकारवचने [3]थमुः) इति थमु प्रत्यये कृते 'किमः कः' इति कादेशे सुपि तस्य लुकि कथम् इत्यादि । एकः प्रकारो यस्याः सा क्रिया इति विग्रहे एकशब्दात् प्रथमान्तात् प्रकारेऽर्थे—

संख्याया विधार्थे धा ५ । ३ । ४२ इति धा प्रत्यये सुपो लुकि प्रातिपदिकत्वात् सुपि तस्य लुकि एकधा । एवम् द्विधा, त्रिधा चतुर्धा पञ्चधा इत्यादि । अयमेषामतिशयेन आढ्य इति विग्रहे प्रथमान्तात् आढ्यशब्दात्—

अतिशायने तमबिष्ठनौ ५ । ३ । ५५ इति तमपि सुपो लुकि अनुबन्धलोपे सुपि आढ्यतमः । एवम् लघुतमः

अजादी गुणवचनादेव ५ । ३ । ५८ ( अतिशायने ) इति नियमात् लघुशब्दादिष्ठनि टेरिति टिलोपे लघिष्ठः । अतिशयेन पचतीति विग्रहे पचति इति तिङन्तात्—

[1]तिङश्च ५ । ३ । ५६ ( [2]अतिशायने [3]तमप् ) इति तमपि अनुबन्धलोपे पचतितम इति जाते—

तरप्तमपौ घः १ । १ । २२ इति तमपो घ संज्ञायाम्—

किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे[7] ५ । ४ । ११ इति आमि दीर्घे पचतितमाम् । एवम् पठतितमाम् इत्यादि तिङन्तमात्रे ज्ञेयम् । अयमनयोरतिशयेनाढ्य इति विग्रहे प्रथमान्तात् आढ्यशब्दात्—

द्विवचनविभज्यो[1]पपदे [2]तरबीयसुनौ ५ । ३ । ५७ इति तरपि सुपो लुकि अनुबन्धलोपे सुपि आढ्यतरः । एवम् लघुतरः । ईयसुनि टिलोपे लघीयान् । पटुतरः । पटीयान्, अयमनयोरेषां वा प्रशस्य इति प्रशस्यतरः प्रशस्यतमः । ईयसुनि इष्ठनि तु सुपो लुकि—

प्रशस्यस्य श्रः ५ । ३ । ६० ( अजाद्योः ) इति श्रादेशे अकारलोपं बाधित्वा—

[1]प्रकृत्यैकाच् ६ । ४ । ६३ ( इष्ठेमेयस्सु ) इति प्रकृतिभावे गुणे प्रातिपदिकत्वात् सुपि श्रेयान् श्रेष्ठः ।

[2]ज्य च ५।३।६१ ( [1]प्रशस्यस्य [2]अजाद्योः ) इत्यनेन ज्यादेशे ज्य + ईयस् इत्यत्र—

ज्यादादीयसः ६ । ४ । १६० ( ज्याद् ईयसः आद् भवति ) इति आदेः परस्येति नियमादीकारस्याकारे ततो दीर्घे ज्यायस् इति प्रातिपदिकात् सुपि ज्यायान् । वृद्धशब्दस्यापि ईयसुनि इष्ठनि च—

वृद्धस्य च ५ । ३ । ६२ ( ज्यः अजाद्योः ) इति ज्यादेशे ज्यायान्, ज्येष्ठ इति पूर्ववद्रूपे भवतः। अयमनयोरेषां वा अतिशयेन युवा इति विग्रहे प्रथमान्तात् युवन्शब्दात् ईयसुनि इष्ठनि च सुपो लुकि—

युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम् ५ । ३ । ६४ इतिकनादेशे कनीयस् कनिष्ठ इति प्रातिपदिकाभ्यां सुपि कनीयान् कनिष्ठ इति । पक्षे—

[1]स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादि[2]परं पूर्वस्य[4] च [5]गुणः ६ । ४ । १५६ ( [3]लुप्यते [6]इष्ठेमेयस्सु । ) इति युवन् शब्दस्य वनो लोपे उकारस्य च गुणेऽपि यवीयस् यविष्ठ इति प्रातिपदिकाभ्यां सुपि यवीयान् यविष्ठः । एवं स्थवीयान् स्थविष्ठः, दवीयान् दविष्ठः । ह्रसीयान् ह्रसिष्ठः । क्षेपीयान् क्षेपिष्ठः । क्षोदीयान् क्षोदिष्ठः । ह्रस्वक्षिप्रक्षुद्रादीनां पृथ्वादित्वा-दिमनिचि ह्रसिमा । क्षेपिमा । क्षोदिमेत्यादीन्यपि रूपाणि । अयम-नयोरेषां वातिशयेन प्रिय इति विग्रहे प्रियशब्दात् प्रथमान्तात् ईयसुनि इष्ठनि च सुपो लुकि अनुबन्धलोपे च –

प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां[1] प्रस्थस्फ-वरबंहिगवर्षित्रब्द्राघिवृन्दाः[2] ॥ ६ । ४ । १५७ ( [2]इष्ठेमेयस्सु ) इति प्रियस्य प्रादेशे गुणे प्रेयस् प्रेष्ठ इति प्रातिपदिकाभ्यां सुपि प्रेयान् । प्रेष्ठः । एवम् स्थेयान् । स्थविष्ठः । वरीयान् । वरिष्ठः । बंहीयान् बंहिष्ठः । गरीयान् । गरिष्ठः । वर्षीयान् । वर्षिष्ठः त्रपीयान् त्रपिष्ठः । द्राघीयान् द्राघिष्ठः इत्यादि । प्रियोरुबहुलगुरुदीर्घाणां पृथ्वादित्वात् इमनिचि प्रेमा वरिमा, बंहिमा, गरिमा द्राघिमा इत्यादि । अयमनयोरेषां वा अतिशयेन अन्तिक इति विग्रहे अन्तिक शब्दात् ईयसुनि इष्ठनि च सुपो लुकि—

**अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ ५ । ३ । ६३** ( अजाद्योः ) इति 'अन्तिक' शब्दस्य नेदादेशे नेदीयस् नेदिष्ठ इति प्रातिपदिकाभ्यां सुपि नेदीयान् नेदिष्ठः । एवं बाढशब्दस्य साधीयान् साधिष्ठः । अयमनयोरेषां वा अतिशयेन स्रग्वी इति विग्रहे स्रग्विन् शब्दात् प्रथमान्तात् ईयसुनि इष्ठनि च कृते सुलोपे अनुबन्धलोपे—

**विन्मतोर्लुक् ५।३।६५** ( अजाद्योः ) इति विनो लुकि स्रजीयस् स्रजिष्ठ इति प्रातिपदिकाभ्यां सुपि स्रजीयान् , स्रजिष्ठः । एवमनयोरेषां वा अतिशयेत त्वग्वान् इति विग्रहे त्वचीयान् त्वचिष्ठः । इत्यादि विन्मतुपोः लुकि रूपं ज्ञेयम् । प्रशस्तः पटुः इति विग्रहे प्रथमान्तात् पटुशब्दात्—

**प्रशंसायां रूपप् ५ । ३ । ६६** ( सुप्तिङ्भ्याम् ) इतिरूपप् प्रत्यये सुपो लुकि अनुबन्धलोपे पटुरूप इति प्रातिपदिकात सुपि पटुरूपः । एवं तिङन्तादपि प्रशस्तं पचतीति पचतिरूपम् । ईषदूनो विद्वान् इति विग्रहे प्रथमान्तात् विद्वच्छब्दात्—

**ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः ५ । ३ । ६७ ।** इति कल्पप् प्रत्यये सुपो लुकि अनुबन्धलोपे ( वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ) इति सस्य दत्वे चर्त्वे च कृते प्रातिपदिकत्वात् सुपि विद्वत्कल्पः । एवं विद्वद्देश्यः विद्वद्देशीयः । एवं तिङन्तादपि ईषदूनं पचति इति विग्रहे, पचतिकल्पम्, पचतिदेश्यम्, पचतिदेशीयम् । अपरिसमाप्ता असम्पूर्णा पाकक्रियेति यावत् ।

**प्रागिवात्कः ५ । ३ । ७० ।** ( 'इवे प्रतिकृतौ' इत्यतः प्राक्काधिकारः ) कस्यायमश्वः इति विग्रहे प्रथमान्तात् अश्वशब्दात्—

**अज्ञाते ५ । ३ । ७३** ( कः ) इति क प्रत्यये सुपो लुकि प्राति-

पदिकादश्वकशब्दात् सौ अश्वकः । एवं कुत्सितोऽश्वोऽश्वकः इत्यत्रापि प्रथमान्तादश्वेति प्रातिपदिकात्—

कुत्सिते ५ । ३ । ७४ ( कः ) इति क प्रत्यये सुपो लुकि सौ अश्वकः इत्यादि । उच्चैरेव इति विग्रहे—

अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः ५ । ३ । ७१ इति ऐकारात्पूर्वम् अकचि अनुबन्धलोपे प्रातिपदिकत्वात् सुपि तस्याव्ययत्वाल्लुकि उच्चकैः । एवं नीचकैः । सर्वकः इत्यादि "ओकारसकारभकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकच् अन्यत्र तु सुबन्तस्य टेः प्रागकच्" इति नियमात् युष्मदस्मद् शब्दात् ओसि टेः प्रागकचि युष्मकद् ओस् अस्मकद् ओस् इति जाते मपर्य्यन्तयोः तयोः युवावादेशे युवकद् ओस् आवकद् ओस् इत्यत्र योऽचि इति दस्य यकारे रुत्वविसर्गयोः युवकयोः आवकयोः । एवम् युष्मकासु अस्मकासु । युष्मकाभिः अस्मकाभिः । युवकाभ्याम् आवकाभ्याम् इत्यादि । अन्यत्र त्वया मया इत्यत्र अकचि त्वयका मयका इति । अश्व इव प्रतिकृतिः इति विग्रहे—

अवक्षेपणेकन् ५ । ३ । ७५ इति कनोऽनुवृत्तौ—

*इवे प्रतिकृतौ ५ । ३ । ९६ ( कन् ) इति अश्वशब्दात् कन् प्रत्यये सुपो लुकि अनुबन्धलोपे सुपि अश्वकः । मृदादिनिर्मिता प्रतिमा प्रतिकृतिः । ( प्रतिकृतेः स्त्रीत्वेऽपि स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्तन्ते' इति पुंलिङ्गत्वम् । ) पञ्चवारान् भुंक्ते करोति वा इत्यर्थे पञ्चन्

---

*इवे उपमानार्थे वर्तमानात् प्रातिप्रदिकात् प्रथमान्तात् प्रतिकृतौ प्रतिकृतिभूते उपमेयेऽर्थे कन् प्रत्ययो भवति ।

शब्दात् द्वितीयान्तात्—

संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् ५।४।१७ इति कृत्वसुच् प्रत्यये सुपो लुकि अनुबन्धलोपे नलोपे पञ्चकृत्वस् शब्दात् सुपि तस्य च अव्ययत्वाल्लुकि पञ्चकृत्वः। एवम् षट्कृत्वः। सप्तकृत्वः इत्यादि। द्विवारं भुंक्ते करोति वा इत्यादौ तु द्विशब्दात्—

[२]द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्[३] ५।४।१८ ([१]क्रियाभ्यावृत्तिगणने) इति सुचि अनुबन्धलोपे सुपि तल्लुकि द्विः। एवं त्रिः, चतुः (अत्र रात्स-स्येति सलोपः) एकवारं भुंक्ते पचति वा इत्यर्थे एकशब्दात्—

एकस्य सकृच्च ५।४।१९ (सुच्) इति सुचि सकृदादेशे च अनुबन्धलोपे संयोगान्तलोपे प्रातिपदिकत्वात् सुपि अव्ययत्वात् लुकि सकृद् भुंक्ते पचति वा। प्राचुर्य्येण प्रस्तुतम् अन्नम् इति विग्रहे प्रथमान्ताद् अन्न-शब्दात्—

*तत्प्रकृतवचने मयट् ५।४।२१ (भावे अधिकरणे च) इति मयटि सुपो लुकि अनुबन्धलोपे सुपि अन्नमयम् वर्तते। प्रचुरमन्नमस्ती-त्यर्थः। यवागूमयी। अपूपमयं वर्तते। अधिकरणेऽर्थे प्रचुरा अपूपा अस्मिन्निति विग्रहे प्राचुर्यविशेषणकापूपाधिकरणेऽर्थेमयटि कृते सुपो लुकि अनुबन्धलोपे सुपि विशेष्यनिघ्नतया अपूपमयो यज्ञः, अपूपमयं पर्व इत्यादि। प्रज्ञ एव इति विग्रहे प्रथमान्तात् प्रज्ञशब्दात् स्वार्थे—

---

* बहुलतया उपस्थितः प्रकृतशब्दार्थः, तस्य वचने बोधने, तदधिकरणे च मयट् प्रत्ययो भवतीत्यर्थः। अत्र 'वचन' शब्दो भावेऽर्थेऽधिकरणेऽर्थे च ल्युटि कृते निष्पन्न इति [illegible]

प्रज्ञादिभ्यश्च ५ । ४ । ३८ ( अण् स्वार्थे ) इत्यणि सुपो लुकि आदिवृद्धौ अकारलोपे स्वरसंयोगे प्रातिपदिकत्वात्सुपि प्राज्ञः, स्त्रीलिंगे टिड्ढेति ङीपि प्राज्ञी । एवम् दैवतः बान्धवः । बहूनि ददाति इति विग्रहे द्वितीयान्तात् बहुशब्दात्—

बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम् ५ । ४ । ४२ इति शसि प्रातिपदिकत्वात् सुपि तस्य अव्ययत्वाल्लुकि बहुशः । एवमल्पशः । द्वौ द्वौ ददाति इति विग्रहे वीप्सार्थे द्विशब्दात् द्वितीयान्तात् -

संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् ५ । ४ । ४३ ( शस् ) इति शसि प्रातिपदिकत्वात् सुपि तस्याव्ययत्वाल्लुकि द्विशः । एवं त्रिशः, चतुश्शः, पञ्चशः, षट्छः इत्यादि । ग्रामादागच्छति इति विग्रहे पञ्चम्यन्ताद् ग्रामशब्दात्—

प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः ५।४।४४ इत्यतः पञ्चम्यास्तसिरित्यनुवृत्तौ—

अपादाने चाहीयरुहोः ५ । ४ । ४५ ( पञ्चम्याः तसिः ) इति तसि प्रत्यये अनुबन्धलोपे अव्ययत्वात्सुपो लुकि ग्रामतः । एवं नगरतः वृक्षतः इत्यादि । आदौ इति विग्रहे आदि शब्दात् सप्तम्यन्तात् आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम् ( सार्वविभक्तिकोऽयं तसिः ) इति तसि प्रत्यये सुपो लुकि अनुबन्धलोपे सुपि तल्लुकि च आदितः । एवं मध्यतः स्वरतः वर्णतः ( आकृतिगणोऽयम् ) अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते इति विग्रहे प्रथमान्ताद् कृष्ण शब्दात्—

कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः ५ । ४ । ५० ( अभूततद्भावे इति वक्तव्यम् ) इति च्वि प्रत्यये सुपो लुकि । कृष्ण + च्वि इत्यत्र—

अस्य च्वौ ७।४।३२ (ईत्) इति कृष्णाकारस्येकारे च्वेः सर्वथा लोपे भवतिना योगे कृष्णीभवति। एवम् शुक्लीभवति। श्वेतीकरोति पण्डितीभवतीत्यादि। अशुचिः शुचिः सम्पद्यते इति विग्रहे कृभ्वस्ति० इति च्वौ,—

च्वौ च ७।४।२६ (अचः दीर्घः) इति दीर्घे शुचीभवति, एवं लघूभवति, पटूस्यात्। कृष्णं शस्त्रं अग्निः सम्पद्यते इति विग्रहे अग्निशब्दात् प्रथमान्तात्—

विभाषा साति कार्त्स्न्ये ५।४।५२ (अभूताद्यर्थे) इति साति प्रत्यये सुपो लुकि अनुबन्धलोपे अग्निसात् भवतीत्यत्र—

सात्पदाद्योः ८।३।१११ इति षत्वनिषेधे जश्त्वेच अग्निसाद् भवति। राजाधीनं करोतीति विग्रहे—

तदधीनवचने च ५।४।५४ (साति कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यमाने) इति साति प्रत्यये राजसात्करोति। विप्राधीनं देयं करोतीति विग्रहे—

देये त्रा च ५।४।५५ (साति कृभ्व०) इति पाक्षिके त्रा प्रत्यये विप्रत्राकरोति, विप्रसात्करोतीति वा। पटत् पटत् करोति इति विग्रहे 'डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम्' इति द्विरुच्चारिताद् पटत् पटत् शब्दात्—

अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्द्धादनितौ डाच् ५।४।५७ इति डाचि अनुबन्धलोपे टिलोपे पटत् पटाकरोतीत्यवस्थायाम् '[५]नित्यमा[२]म्रेडिते डा[१]चीति वक्त[७]व्यम्' (पूर्व[३]परयोः वर्णयो[४]ः पररूपम्[६]) इति डाच्परके आम्रेडिते परे पूर्व-पटत्-तकारस्य परपटापकारस्य चेत्युभयोः पकाररूपे जाते पटपटाकरोति खटखटाकरोति।

# द्विरुक्तप्रकरणम्

पौनःपुन्येऽर्थे लोके पदं द्विः प्रयुज्यते । तस्य सिद्धिं ब्रूते—

सर्वस्य द्वे ८ । १ । १ ( अधिकारात् ) वीप्सार्थविवक्षायाम्—

नित्यवीप्सयोः ८ । १ । ४ ( सर्वस्य द्वे ) इति पचतीत्यस्य द्वित्वे पचति पचति । एवम् वृक्षं वृक्षं सिञ्चति । ग्रामो ग्रामो रमणीयः । भुक्त्वा भुक्त्वा गतः । इत्यादि सुन्दर इत्येकमात्रस्य—

वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासम्मतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु ८।१।८। (द्वे) इत्यनेन असूयायाम् द्वित्वे सुन्दर सुन्दर वृथा ते सौन्दर्यम् । सम्मतौ-देश देश वन्द्योऽसि । कोपे-मूर्ख मूर्ख तूष्णीं भव । कुत्सने-पण्डित पण्डित वृथा ते पाण्डित्यम् । भर्त्सने-जल्प जल्प पश्यामि ते जल्पनम् । "सम्भ्रमेण प्रवृत्तौ यथेष्टमनेकप्रयोगो न्यायसिद्धः' सर्पः सर्पः, बुध्यस्व बुध्यस्व इत्यादि । द्वे द्वे इति विग्रहे—

द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु ८ । १ । १५ इति द्विशब्दस्य द्विर्वचने पूर्वपदस्य अम्भावे उत्तरपदस्य अत्वे नपुंसकत्वे च निपातिते द्वन्द्वम् इति सिध्यति । द्वन्द्वं मन्त्रयते । 'द्वन्द्वम्' इति योगविभागात् अन्यत्रापि । द्वन्द्वानि सहते । शीतोष्णमेकं द्वन्द्वम् । सुखदुःखञ्च परम् । चार्थे द्वन्द्वः इत्यादि ज्ञेयमेवम् ।

ग्रन्थारम्भात् पूर्वमेव परिशिष्टं प्रशीलयेत् ।
यतोऽध्ययनसौविध्यं दृढबोधश्च जायते ॥ १ ॥

इति श्रीत्रैमधरिणा कौशल्याजेन शाण्डिल्येन सारण्यस्थ सैदपुरा जगन्नाथपुराभिजनेन काशीवास्तव्येन म० म० पण्डितराजेन श्रीगोपालशास्त्रिणा दर्शनकेशरिणा निर्मिते पाणिनीयप्रबोधे पूर्वार्द्धं समाप्तम् ।



( शुभं भूयात् )

प्रथमपरीक्षायाम् १९५५ ।

प्रथमं पत्रम् ।

समयः—घण्टात्रयम् ।

संपूर्णाङ्काः – १०० ।

## पाणिनीयप्रबोधे प्रश्नाः

१ के वर्णा घोषप्रयत्नाः ? के चाघोषाः ? केऽल्पप्राणाः ? के च महाप्राणाः ? इत्युल्लिख्य अधस्तनेषु केषुचित् सप्तस्वेव ससूत्रोल्लेखं सन्धिकार्यं दर्शयत । ... २०

वेदाध्ययनम् । देवर्णम् । एकैकम् । हरेऽव । वाग्घरिः । प्रत्यङ्ङात्मा । त्वङ्करोषि । रामोऽर्च्यः । पुनारमते ।

२ रामाय, सखा, कर्ता, पन्थाः, प्राङ्, दध्ना, तुभ्यम्, इयम्, पञ्च, स्वः । एतेषु पञ्चैव ससूत्रोल्लेखं संसाध्य 'गन्तृ, दण्डिन्, सीमन्, पचत्, श्रेयस्, इन्द्र, दाक्षि, युवन्'—एतेषु केषाञ्चित् पञ्चानामेव स्त्रीलिङ्ग-स्वरूपाणि लिखत । २०

३ अधस्तनेषु वाक्येषु केषाञ्चन पञ्चानां विभक्तिविधायकानि सूत्राणि लिखत— १५

हे राजेन्द्रप्रसाद प्रथमराष्ट्रपते ! महात्मागान्धी भारतमातृमन्दिरम् उद्घाटितवान् । सुभाषः पाश्चात्त्यान् जयति ब्रह्मदेशम् । भारतीयैरसहयोगेन स्वराज्यमुपलब्धम् । विना कमलापतिं कः संसारसमुद्धर्ता । ऋते नेहरुं को गोरण्डनीतिमर्मवित् । मन्त्रिणां मन्त्रिषु वा श्रीसम्पूर्णानन्दः प्रवीणः । ... १५





४ तत्पुरुष-बहुव्रीहि—द्वन्द्व—समासानामेकैकमुदाहरणं सविग्रहं दर्शयित्वा राघवः । द्वैमातुरः । युष्मदीयः । श्वस्तनम् । ब्राह्मणवत् । श्रीमान् । तर्हि । स्रजिष्ठः । बहुशः । एषु पञ्चस्वेव केषुचित् तद्धितविधिं सविशेष—सूत्रोल्लेखं दर्शयत ।

५ भू, श्रु, ऋ, हृ, हन्, शीङ्, ब्रू, दा, रुधिर्, ग्रह इत्येतेषु यथेच्छं पञ्चानामेव धातूनां लोटि मध्यमपुरुषैकवचने विशेषसूत्रोल्लेखपुरस्सरं रूपाणि संसाध्य तेषामेव भावे कर्मणि वा लटि प्रथमपुरुषैकवचने केवलं रूपमेकैकं लिखत । १५

६ पच्, गम्, धूञ्, चुर्, एषु धातुषु त्रयाणां केषाञ्चन तव्य, अनीयर्, ण्वुल्, तृच्, क्त, क्तवतु, ल्युट्, शतृ, तुमुन्, क्त्वा प्रत्ययेषु केषुचिच्चतुर्ष्वेव प्रथमैकवचनान्तमेकैकं रूपं लिखत ।... १५

## पाणिनीयप्रबोधे प्रश्नाः ।

### १९५६

१ दन्त्यमूर्द्धन्यविवृतान्यक्षराणि लिखित्वा निम्नांकितेषु केषुचन पञ्चस्वेव ससूत्रोल्लेखं सन्धिकार्य्यं दर्शयत—

स्वराज्यान्दोलनम्, महर्षिः, नन्वथ, तस्मा अर्थः, वाङ्मात्रम्, अज्झीनम्, राजंस्तथा, मेघ ⁀ पतति, गुणोऽनर्घ्यः, हरीरम्यः, एष शिवः । ... १५

२ रामाणाम्, हरौ कर्तारौ, पथः, प्राचः, दधनि, मह्यम्, अयम्, षट्, स्वः, एषु पञ्चैव प्रयोगान् सविशेषसूत्रोल्लेखं संसाध्य अज, दातृ, गुणिन्, पाचक, कुमार, ददत्, सुकेश, दाक्षि, युवन्, एषु केषाञ्चन पञ्चानां स्त्रीलिङ्गे रूपाणि लिखत । ... १५

३ अधोऽङ्कितेषु वाक्येषु केषाञ्चन पञ्चानां विभक्तिविधायकानि सूत्राणि लेख्यानि, यथास्थलं कारकसंज्ञा च वाच्या।

मालवीयमहामुनि-हिन्दुविश्वविद्यालयं स्थापितवान्। तर्कयन्त्रेणार्थिकस्वातन्त्र्यमिह स्यादेव। रोचते सत्याग्रहिणे कारागारम्। सत्याग्रही कारागारं तृणाय मन्यते। देशद्रोहिभ्यो भारतं त्रायस्व। राजर्षिटण्डनो वेत्रासनात् नियन्त्रयति विधानसभासदस्यान्। रामायणस्य कर्त्ता वाल्मीकिः। मन्त्रिणां मन्त्रिषु वा श्रीसम्पूर्णानन्दः पटीयान् यो हि शिक्षार्थविभागौ साधु सञ्चालयति। ... १५

४ अव्ययीभाव-कर्मधारय- बहुव्रीहि- द्वन्द्वसमासानामेकैकमुदाहरणं सविग्रहं दर्शयित्वा भागिनेयः, षाण्मातुरः, उदीच्यम्, पितामहः, नस्यम्, सैनापत्यम्, धनी, अधुना, श्रेष्ठः, अन्नमयम्— एषां केषु पञ्चस्वेव सविशेषसूत्रोल्लेखं तद्धितप्रत्ययं लिखत। ... १५

५ भू, द्रु, घ्रा, गम्, श्रि, वह, अद्, ब्रू, धा, शिष्, क्रुञ्, ग्रह, एषु यथेच्छं पञ्चानामेव लङि मध्यमपुरुषैकवचने विशेषसूत्रोल्लेखपूर्वकं रूपाणि संसाध्य तेषामेव भावकर्मवाच्ये लटि प्रथमपुरुषैकवचने रूपाणि केवलानि लेख्यानि। .... २०

६ भूधातोः सनि यङि यङ्लुकि च प्रथमपुरुषैकवचने लटि सविशेषसूत्रोल्लेखमेकैकं रूपं संसाध्य पठ्, हन्, दा, शीङ्, तुद्, चुर, एषु पञ्चानां केषाञ्चिद् अनीयर्, तृच्, क्त, शतृ, क्ति प्रत्ययेषु प्रथमैकवचनान्तं रूपं पुंलिङ्गे लिखत। ... २०

# सुवर्ण-सुयोग

संस्कृत के विशुद्ध ग्रन्थों की प्राप्ति के लिये परीक्षार्थियों, अध्यापकों तथा संस्कृत के प्रेमियों को बड़ी असुविधा का सामना करना पड़ता है, इसलिये शास्त्रि मण्डल काशी ने स्वयं अपना शास्त्रिमण्डल ग्रन्थागार स्थापित किया है।

पाठशालाध्यापकों तथा विद्यार्थियों को उचित है कि अपनी पाठशाला में लगने वाली परीक्षा पाठ्य पुस्तकों के लिये शास्त्रिमण्डल काशी को लिखें।

व्यवस्थापकः—

**शास्त्रिमण्डल ग्रन्थागार,**

डि ५९।३१ गार्डनकालनी, सीगरा,

वाराणसी—१

शास्त्रिमण्डल, काशी द्वारा

प्राप्य अत्युपयोगी पु

(१) श्रुतबोध ( बालोपयोगी संस्करण )
(२) राष्ट्रधर्मोपदेशिका
(३) हिन्दीदीपिका
(४) नीतिसंग्रह ( संक्षिप्तहितोपदेश )
(५) संस्कृतशिक्षक
(६) भारतीय संस्कृति
(७) ऋजुपाणिनीयम्
(८) मीमांसापरिभाषा संस्कृत तथा
(९) सटिप्पण लघुकौमुदी
(१०) तर्कसंग्रह हिन्दीटीकासहित
(११) पाणिनीयप्रबोध पूर्वार्ध
(१२) पाणिनीयप्रबोध उत्तरार्ध

पुस्तकप्राप्तिस्थान—

(१) शास्त्रिमण्डल ग्रन्थागार,
डि ५९।३१ गार्डनकालनी, सीगरा,
...पुरी ( ... )

प्रत्ययेषु प्रथमैकवच...